महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या 101-200 तक

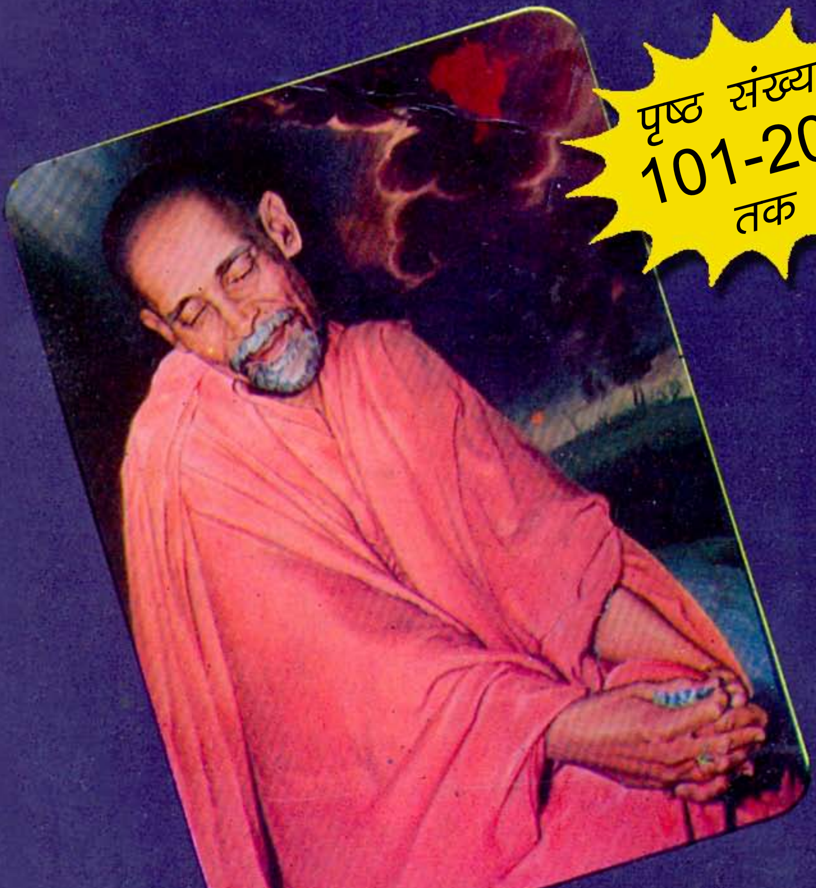

साधु कृष्णप्रेम

विचलित नहीं होते। उनमें भगवान्‌की सार्वत्रिकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वसौहार्द आदि शक्तियाँ भगवान्‌के समान ही विकसित होती हैं। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका एवं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ऐसे ही महापुरुष हैं। श्रीसेठजीमें 'मैं भगवान् नारायण हूँ' यह भाव अक्षुण्ण, आठोंपहर रहता है। ये अपनेको शंख, चक्र, गदा एवं पद्मधारी चतुर्भुज ही देखते हैं। कभी-कभी, इनका आन्तरिक् भाव पूर्ण निर्विकल्प सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपसे भी एकाकार हो जाता है। इनमें देहभावजन्य अहंकार, जैसे 'मैं जयदयाल गोयन्दका हूँ – यह तो कभी उदय ही नहीं होता। ये, या तो अपरोक्ष ब्रह्मानुभूतिमें डूबे रहते हैं अथवा 'मैं नारायण हूँ' – इस भावसे सृष्टिका कल्याण-कार्य अनवरत करते रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे भक्तोंके लिये कहा गया है :–

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।

(श्रीमद्भागवत ९/४/६८)

जैसे ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी, ब्रह्म ही होता है – **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** (श्रुति), इसी प्रकार भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही हैं। जो भगवान्‌के भक्तोंका सेवन करते हैं, वे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं। साधु भगवान्‌के हृदय हैं और भगवान् साधुके हृदय हैं। साधु भगवान्‌के अतिरिक्त किसीको नहीं जानते, भगवान् भी साधुको छोड़कर किसीको नहीं जानते ।

'भरत सरिस को रामसनेही । जग जपु राम, रामु जपु जेही ।'

श्रीभरतजी रामजीका निरन्तर जाप किया करते थे और रामजी निरन्तर भरतजीकी चिन्ता करते, उनके जपमें तल्लीन रहते थे।

प्रेमस्वरूपा गोपियोंके सम्बन्धमें भी भगवान्‌की ऐसी ही उक्तियाँ हैं।

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिका पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ।।

हे अर्जुन ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नहीं जानता।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है – ***ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।* (गीता ९/२९)**

"जो प्रेमसे मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ।" श्रीनन्ददासजी अपनी रासपंचाध्यायीमें कहते हैं :–

मोहनलाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं !
केवल तन्मय भयीं न कछु जानैं हम को हैं ।।

गोपियाँ भगवान्को ढूँढ़ती हुई ऐसी तन्मय हो गयीं कि वे उन्हींकी लीला करने लगीं। भैया ! मेरे कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि श्रीजयदयालजी गोयन्दका जैसे भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने ब्रह्मरूपको भूलकर साक्षात् भगवत्स्वरूपका ही निरन्तर आठोंयाम अनुभव करने लगते हैं। ऐसे भगवद्भक्त इतने प्रभावशाली होते हैं कि उनपर पूर्ण श्रद्धा हो जाय, तो उसी क्षण उनके स्थानपर ही हमें भगवान्के दर्शन हो जावें। अतएव जिसको भी भगवद्दर्शन किंवा भगवत्प्रेमकी प्राप्तिकी इच्छा है, उसे ऐसे भगवत्प्रेमी संतोंको पकड़ लेना चाहिये। यदि परिस्थिति इतनी अनुकूल न हो कि ऐसे भगवत्प्रेमी पुरुषोंके संगकी व्यवस्था हो सके, तो इन-जैसे महापुरुषोंका अतिश्रद्धापूर्वक ध्यानादि करके उनसे ही प्रार्थना करनी चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका संग मिल जावे एवं उनपर अतिशय, अटूट श्रद्धा हो जाय।

आप मुझसे पूछ सकते हैं कि तुम्हें तो ऐसे महापुरुषोंका दुर्लभ संग प्राप्त है, क्या तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो गयी ? इसके उत्तरमें मुझे यही कहना है कि अवश्य ही मैं परम भाग्यवान् हूँ, जो श्रीजयदयालजी-जैसे संत मुझसे अपनी कुछ भी सेवा ले रहे हैं, एवं अत्यन्त प्यार तथा आदरसे मुझे अपने साथ रखे हुए हैं, परन्तु निश्चय ही मेरी श्रद्धाका काँटा अभी उस बिन्दुको संस्पर्श नहीं ही कर रहा है, जिससे तत्क्षण ही उनके रूपमें मुझे भगवान्के दर्शन होकर मैं पूर्ण कृतकृत्यता लाभ कर लूँ। यह बात पूरी तरह आपको समझा पाऊँ इसलिए श्रीभाईजीके सत्संगमें सुना एक सच्चा भक्त-चरित्र आपको लिखकर भेज दे रहा हूँ।

सुना है, व्रजमें एक प्रसिद्ध महात्मा श्रीभट्टजी हुए हैं। ये श्रीचैतन्यदेवके प्रादुर्भावके पूर्वके महात्मा थे। व्रजकी अनेक स्थलियोंको इन्होंने पहचानकर उनकी पुनः स्थापना करायी थी। ये दक्षिणमें द्रविड़देशके रहनेवाले थे। ये जब युवावस्थामें ही थे, तभी इन्हें उत्कट वैराग्य हो गया और ये गृह त्यागकर भगवान् राधाकृष्णके दर्शनोंकी उत्कट इच्छा लेकर व्रजप्रदेशकी ओर चल पड़े। उन दिनों व्रजमें घोर वन था। बहुत दूर-दूर, गाँव थे भी, तो उनके निवासी मात्र पशुपालन करते थे। उन दिनों और तीर्थ तो लुप्त थे ही, मात्र गोवर्धनपर्वत, यमुना नदी, एवं मानसीगंगा ही प्रकट थीं। राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड आदि सरोवर तो थे, परन्तु ये गुप्त थे और घोर वनोंमें स्थित थे। ये केवल कुण्डोंके रूपमें पशुओंको जल पिलानेके कार्यमें प्रयुक्त होते थे। उन दिनों गोवर्धन पर्वतकी परिक्रमा-स्थली भी घोर वनमें से ही जाती थी, और उसमें जंगली पशु, शेर-चीते, भालू आदिका बाहुल्य था।

श्रीभट्टजी द्रविड़देशसे पैदल यात्रा करते हुए व्रजप्रदेशमें गोवर्धनके मध्य-स्थित मानसीगंगामें पहुँचे। उन्होंने देखा कि मानसीगंगाके तटपर एक अद्भुत, तेजस्वी, शान्त महात्मा विराजित हैं। उनके ध्यान-निरत नेत्र अर्द्ध-निमीलित हैं, और अति प्रसन्न आनन्दयुक्त मुद्रामें उनका मुखमण्डल विशुद्ध सात्त्विक तेजसे दिपदिपा रहा है।

श्रीभट्टजीने मानसीगंगामें स्नान किया, और उन महात्माके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करके उनके निकट ही वे एक दूसरे पेड़के नीचे जाकर चुपचाप शान्त बैठ गये। श्रीभट्टजी अति प्रसन्न थे क्योंकि उन्हें व्रजप्रदेशमें पहुँचते ही उनके मनोवांछित महात्माके दर्शन हो गये थे। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय भी कर लिया कि वे इनकी ही शरणागति ग्रहण करेंगे और इनकी कृपासे निश्चय ही उनको भगवान् श्रीराधाकृष्णके दर्शन हो जावेंगे।

श्रीभट्टजीने इन महात्माकी आध्यात्मस्थितिका पूर्ण आकलन कर लिया। ये भगवान्के स्वरूपतत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तथा उनसे अनन्य प्रेम करनेवाले महात्मा थे। श्रीभट्टजीकी पारखी आँखें वह भलीप्रकारसे पहचान चुकी थीं। श्रीभट्टजीको इन महात्मापर पूर्ण विश्वास हो गया था।

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता, बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं सन्ता ।।

(श्रीरामचरितमानस)

भगवत्तत्त्वके ज्ञाता, भगवत्प्रेमके रंगमें रँगे हुए मोक्षसन्यासी, भगवत्संगी, लीला-विहारी भगवान् श्रीराधाकृष्णके नित्यलीलाके पात्र, प्रेमीसन्त, बिना भगवत्कृपाके कदापि नहीं मिल सकते। और यदि अनन्त जन्मोंके पुण्यवशात् ऐसे संत मिल भी जाते हैं, तो निश्चय ही मान लेना चाहिये कि अब भगवत्प्रेमरूपी भक्तिकी प्राप्ति सहज ही होनेवाली है। इसमें कहीं कोई संशय नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् अपने श्रीमुखसे उद्धवजीको कहते हैं :–

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ।।

(श्रीमद्भागवत ११।१२।१-२)

हे उद्धव ! दूसरे समस्त संगोंका निवारण करनेवाले सुदुर्लभ प्रेमी-भक्तोंके संगसे जैसा मैं वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्ट, आपूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसी भी अन्य साधनसे नहीं होता।

यहाँ यह बात समझ लेने की है कि अन्यान्य सभी साधन सकामभावसे होनेपर भोग और स्वर्गादिकी और निष्कामभावसे होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि और मुक्तिकी ही प्राप्ति करानेवाले होते हैं। लीला-विहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो केवल एक सर्वतंत्र-स्वतंत्र, अनन्य विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोंके द्वारा किसीको भी नहीं मिलता। वह तो केवल भगवत्संगी प्रेमी महापुरुषोंकी कृपासे ही मिलता है। नित्यकृपावर्षी भगवान् एवं भगवदीय महात्माओंकी कृपा बिना जीवको भगवत्प्रेम कदापि नहीं मिल सकता, अतएव ऐसे प्रेमी संतोंकी सेवा, उनकी आज्ञाका पालन, उनका संग ही प्रेम-प्राप्तिका प्रधान साधन है। श्रीभट्टजीने दृढ़निश्चयसे इन महापुरुषकी शरण लेनेका मन-ही-मन व्रत ले लिया।

कुछ काल पश्चात् महात्माजीने अपने नेत्र उन्मीलित किये। धीरे-धीरे उनकी वृत्तियाँ जब जगत्‌को पकड़ने लगीं, तो श्रीभट्टजीपर उनकी पवित्र दृष्टि पड़ी। पहली दृष्टिमें ही महात्माजीने युवक भट्टजीपर भगवान् राधाकृष्णकी असीम कृपा और उनके आध्यात्मिक-साधनाके सुयोग्य पात्र होनेकी बात पहचान ली। उन्होंने अत्यन्त स्नेहसे श्रीभट्टजीका परिचय पूछा। सरल युवक श्रीभट्टजीने अपना दाक्षिणात्य द्रविड़देशीय भट्ट ब्राह्मण होने और अपने ग्रामधाम, माता-पिताका सभी परिचय उन्हें दे दिया।

महात्माजीने श्रीभट्टजीसे सुदूर दक्षिणदेशसे व्रजप्रदेशमें आनेका कारण पूछा, तो युवक श्रीभट्टजीने अपने विरक्त होकर गृहत्यागकी वार्त्ता सुनायी और यह भी निवेदित किया कि वे व्रजमें भगवान् राधाकृष्णके दर्शनकी परम उत्कण्ठा लेकर ही आये हैं।

महात्माजी शान्त हो गये एवं अपने भजनमें पुनः तल्लीन हो गये। श्रीभट्टजी उन महात्माजीकी यथावसर सेवाका अवसर ढूँढ़ने लगे, और जैसे ही कोई सेवाका अवसर उन्हें मिलता, वे पूर्ण तत्परतापूर्वक उनकी सेवा करने लगते।

इस प्रकार, कुछ काल व्यतीत हो गया। श्रीभट्टजी अच्छी प्रकार जानते थे कि जिसको अपने परम कल्याणकी इच्छा हो, उसे परम प्रेमीभक्त एवं सिद्ध गुरुकी शरण ही जाना चाहिये। उसे गुरुको ही आत्मा और इष्टदेव समझकर निष्कपट भावसे उनकी सेवा करके, उनसे भगवत्प्रेम-प्राप्तिका साधन सीखना चाहिये। इस साधनरूपा भक्तिके पश्चात् ही गुरुकृपासे शुद्ध अन्तःकरणवाले भक्तमें प्रेमलक्षणा भक्ति उदय होती है, तभी वह प्रेम-मग्न होता है और भगवान्‌के युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्णके साक्षात् दर्शनोंका अधिकारी होता है।

श्रीभट्टजीका उन महात्माको गुरु बनानेका निश्चय तो दृढ़ हो ही गया था, अब वे अवसरकी प्रतीक्षा करने लगे। भट्टजीको एक दिन वह अवसर भी मिल गया। श्रीभट्टजीकी सेवासे अति प्रसन्न हुए महात्माजी, उनसे प्रेमपूर्ण वार्त्ता कर रहे थे। श्रीभट्टजीने महात्माजीके सम्मुख अपने पूर्ण, शरणागत होनेकी इच्छा प्रकट कर दी। महात्माजी परम प्रसन्न थे ही, उन्होंने युवक श्रीभट्टजीको शिष्य बनानेका मन-ही-मन निश्चय कर लिया, एवं विधिवत् दीक्षा भी दे दी। सिद्ध गुरुसे दीक्षा पाकर जब श्रीभट्टजी मानसीगंगामें स्नानकर गुरुदेवके सम्मुख उपस्थित हुए, तो गुरुजीने उनसे एक प्रश्न किया – "बेटा ! तूने मेरी किस आशासे शरणागति ली है ?" श्रीभट्टजीने निवेदन किया – "महाराज ! मनुष्यके जीवनके भविष्यके एक क्षणका भी उसे पता नहीं है, मैं आपकी कृपाका आश्रय लेकर श्रीराधाकृष्ण भगवान्की प्राप्तिका साधन पूछना चाहता हूँ। मेरी वर्त्तमानमें जैसी मन-बुद्धिकी दशा है, वह आपसे कहीं कुछ भी छिपी नहीं है। ना जाने कितने जन्मोंके पुण्यफलोदयसे भगवान्को या भक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है। मैंने क्षणभरके लिये ही अपने जीवनका ध्येय भगवत्प्राप्ति माना है, न जाने चंचल मन कब ध्येय परिवर्तित कर दे; अतः प्रभो ! मुझे शीघ्र साधन-मार्गपर आरुढ़ कर दीजिये। ज्यों-ज्यों मेरा साधन बढ़ेगा, मेरा नीच मन उसमें विशेष अनुराग कर पावेगा। मैं, मेरी जो वर्तमान्में सदिच्छा जाग्रत हुई है, उसे खोना नहीं चाहता। स्वास्थ्य भी मेरा सदा अच्छा रहेगा, यह भी निश्चय नहीं है। स्वास्थ्य बिगड़ जानेपर, इन्द्रियोंके अशक्त हो जानेपर, बुढ़ापा आ जानेपर, यदि इस युवावस्थामें भजनका पूरा अभ्यास नहीं किया गया, तो आगे मन लगना असंभव है। घरमें आग लगनेके पश्चात् फिर कूप खोदनेमें लगना तो व्यर्थ ही प्रयास होगा।"

"हे प्रभो ! आपके चरणकमलोंमें मेरा यह मनरूपी भ्रमर आज ही बँध जावे, मैं अब एक पलका काल भी भगवद्भजनके बिना बिताना नहीं चाहता। प्रभो ! कृपा करें, जिससे मेरी एक-एक श्वास खूब सावधानीपूर्वक भगवच्चिंतनमें लग जाय। भजनहीन मेरा जो भी समय व्यतीत हो रहा है, यही मेरी सबसे बड़ी विपत्ति है। प्रभो ! मैं साधनजन्य सारे क्लेश सह लूँगा, किन्तु अब प्रिया-प्रियतम भगवान् श्रीराधाकृष्णका वियोग मुझसे पलभर भी सह्य नहीं है। प्रभो ! मैं अति कातर हुआ, आपसे मेरे हृदयकी गुप्ततम बात कह रहा हूँ। मुझे न मोक्ष चाहिये, न ही ज्ञान चाहिये, न वैभव चाहिये, न ही ऋद्धि-सिद्धियाँ एवं न महान् कीर्ति ही चाहिये। मुझे किसी भी योनिमें जाना पड़े, कुछ भी हो, मुझे इसकी भी तनिक-सी चिन्ता नहीं। बस, परम दयालो ! मुझे श्रीराधाकृष्ण युगल-दम्पतिका

प्रेम प्राप्त हो जाय, बिना किसी हेतुका प्रेम, पगलाप्रेम, अन्धाप्रेम, प्रेममय प्रेम, प्रियतममय प्रेम, मेरा दिनोंदिन बढ़ता रहे, बस यह कृपा कर दीजिये।"

महात्माजीने अत्यन्त ध्यानपूर्वक श्रीभट्टजीकी सभी बातें सुनीं और तब अति शान्त चित्तसे बोले – "बेटा ! बता तो, तुझे मेरे स्थानपर क्या दीखता है ?" श्रीभट्टजीने उत्तर दिया – "प्रभो ! मुझे आप भागवतधर्म-परायण, सदाचारी, साधुस्वभाव, दैवी-सम्पत्तिवान् महात्मा दृष्टिमें आ रहे हैं । प्रभो ! आप-जैसे महात्माओंका मिलना परम सुदुर्लभ है। प्रभो ! आप-जैसे सच्चे निस्पृह भगवज्जनोंको प्राप्तकर मैं धन्य एवं कृतकृत्य हूँ ।"

श्रीभट्टजीकी उक्ति सुनकर महात्माजीने पुनः अति स्नेहसे कहा – "बेटा ! ठीक है, अब मैं तुझे एक साधना बताता हूँ। तू आजसे ही इस साधनाको प्रारंभ कर दे। यह साधना कठिन तपस्यायुक्त अवश्य है, परन्तु तेरी मनोकामना इसी साधनासे पूर्ण होगी, यही मुझे समझमें आ रहा है। आजसे तू सर्वथा मौन ले ले। मन-ही-मन 'राधा-कृष्ण' जप करते हुए तुझे इस श्रीगोवर्धनपर्वतकी अनवरत परिक्रमा करनी है। तेरी यह गिरिराज-परिक्रमा लगातार बारह वर्षोंतक चलती रहे। जब तुझे बहुत भूख अनुभव हो, तो भिक्षा माँगनेकी मुद्रामें अंजलि पसार लेना, परन्तु परिक्रमा स्थगितकर कहीं किसी ग्राममें भिक्षार्थ मत जाना। भूलकर भी सिवा राधाकृष्णके अन्य किसी व्यक्तिका संग मत करना। अन्य संग होनेपर कभी दुःसंग भी होना संभव है, और दुःसंगसे आसुरी सम्पत्तिके सभी दुर्गुण और दुराचारोंका विकास और विस्तार होता है। दुःसंगसे साधकके समस्त सद्गुण विनष्ट होकर उसका सर्वनाश हो जाता है।"

"बेटा ! तू पशु-पक्षियोंका भले ही संग कर लेना, व्रजके पेड़-पौधोंसे भले ही मैत्री कर लेना, किन्तु शिश्नोदरपरायण नीच मनुष्योंका संग कदापि मत करना। जो भी विषयीजनोंका भूलकर भी संग कर लेता है, वह इन अशान्तचित, मूर्ख, नष्टबुद्धि, स्त्रियोंके हाथके खिलौना बने हुए मनुष्योंकी भाँति स्वयं भी अन्धकारपूर्ण नरकोंमें जाता है।"

"भगवत्सम्बन्धी तत्त्व-रहस्य तथा लीला-कथाओंको छोड़कर भोगके समय तृप्तिदेनेवाले लौकिक विषयोंका मनसे भी कभी चिन्तन मत करना, क्योंकि चित्त अधिक समयतक जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति हो जाती है। फिर विषयी पुरुषोंके शरीर, वाणी और मन द्वारा किया हुआ संग स्वाभाविक ही विषयासक्ति बढाता है। आसक्तिसे कामना होती है, जो समस्त पापोंका मूल है।"

"बेटा ! मानसिक, कायिक एवं वाचिक तीनों प्रकारके दुःसंगसे सर्वथा

बचना, क्योंकि जबतक दोषोंका समूल नाश नहीं हो जाता, तबतक सज्जन पुरुषको दोषसे भी डरते ही रहना चाहिये। जैसे ईंधनमें दबी हुई जरा-सी चिनगारी हवाके जोरसे विशाल अग्निका रूप धारण कर लेती है, इसी प्रकार दबा हुआ जरा-सा भी दोष कुसंग पाते ही पनपकर विशाल रूप धारण कर लेता है। पहले-पहले जब मनमें काम-क्रोधका विकार उत्पन्न होता है, तो उसकी एक लहर-सी ही आती है, परन्तु कुसंग पाकर वह लहर समुद्र बन जाती है; फिर समग्र हृदयपर उसीका अधिकार हो जाता है। अतः तनिक-से कुविचार, कुसंगकी उत्पन्न होते ही गर्दन दबा देना, भूलकर भी उसमें रस मत लेना।''

''बेटा ! जब तुझे प्यास लगे, तो किसी ग्राम्य-कूपमें मत जाना। जन-सम्पर्कसे बचते ही रहना। किसी एकान्त, गन्दे जलके पोखरेसे भले ही अपनी प्यास बुझा लेना। वह गँदला जल तेरे पेटमें मिट्टी ही डालेगा, किन्तु कुविचारके संस्कार नहीं डाल पावेगा। यदि शुद्ध जलके मोहसे ग्राम्य-कूपमें चला गया, तो ग्राम्य-कूप, तड़ाग, सरोवरोंमें जल भरतीं स्त्रियोंपर तेरी स्वाभाविक ही दृष्टि पड़ेगी, जो तेरे लिये सर्व-विनाशक होगी। अतः सदा जनबस्तियोंसे दूर रहना एवं एकान्तका कभी त्याग मत करना ।''

''परिक्रमा करते-करते जबतक पूरी थकान नहीं आवे, मत रुकना। जब शरीर थककर चूर-चूर हो जाय, तो किसी सघन वृक्षके नीचे विश्राम कर लेना। वृक्षको छोड़कर ग्राम्य-कुटी अथवा एकान्त खण्डहरोंका आश्रय कदापि मत लेना। इस प्रकार लगातार बारह वर्षतक परिक्रमा करनेके पश्चात् फिर मुझसे इसी स्थानपर मिलना ।''

श्रीभट्टजीने तत्काल उन श्रेष्ठ महात्माको प्रणाम किया, और उनकी अनुमति लेकर, जैसे उन्होंने आज्ञा दी थी, ठीक उन्हीं नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेका निश्चयकर परिक्रमा प्रारंभ कर दी।

श्रीभट्टजी लगातार बारह वर्षतक अपने गुरुदेवकी आज्ञानुसार अक्षरशः नियमोंका पालन करते हुए श्रीगिरिराज-परिक्रमा करते रहे।

नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये जैसे हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फेंकना और काटना आवश्यक होता है, उसी प्रकार इस माया-समुद्रको जो भी तैरकर पार करना चाहते हैं, उन्हें भी अहंकार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर काटना और फेंकना ही पड़ता है। जो इनका त्याग नहीं कर सकता, इनको काट नहीं सकता, वह माया-समुद्रके जलमें रमकर अतल-तलमें डूब ही जाता है; हाथ-पैर मारते-मारते भी उसके थक जाने अथवा श्वास टूटनेकी

संभावना हो ही जाती है।

इसी प्रकार घोर तपस्यासे भट्टजीका शरीर सूखकर काँटा होगया। उन्हें शीत-घाम-वर्षामें खुले आकाशमें रहना होता था। कभी-कभी अनवरत अंजलि पसारकर भिक्षा माँगनेकी मुद्रा करनेपर भी पाँच-छः दिनोंतक उन्हें एक कण भी कहींसे अन्न नहीं मिलता था। जब भूखसे क्लान्त शरीर चलनेमें भी सर्वथा अशक्त हो जाता, वे बिल्ववृक्ष, जालके वृक्ष, तथा गूँदीवृक्षके पत्ते चबा लेते। परन्तु उन्होंने नियम तोड़कर ग्राम्य-भिक्षा करना स्वीकार नहीं किया। कभी कोई वस्त्र दे देता, तो तन ढक लेते अन्यथा किसी चिथड़ेसे अधो-अंग ढक लेते और सर्वथा नग्न रहते। अनवरत चलनेसे उनके पैरोंमें घाव हो गये। उनके अंगोंकी सम्पूर्ण सुकोमलता जाती रही। घुँघराले, सुन्दर बाल जटा बन गये। सारा सौम्य, सुन्दर शरीर धूपमें तपकर काला हो गया। परन्तु वे सरलभावसे अपने पर भगवान्‌की बरसती अपार कृपाका अनुभव करते हुए सब कठिनाइयाँ सहते रहे।

धीरे-धीरे तन एवं मन दोनों ही कठोर तपके अभ्यासी हो गये। श्रीभट्टजीको अपने ऊपर-नीचे, इर्द-गिर्द, सब स्थानों एवं भूत-भविष्यत्, सब कालमें भगवत्कृपा भरपूर अनुभव होने लगी। वे सारे पाप-तापसे मुक्त हो गये और भगवान्‌की सच्ची भक्तिके अधिकारी हो गये।

शान्ति और परम आनन्द साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। इनके रूपमें भक्तके हृदयमें स्वयं भगवान् ही अवतीर्ण होते हैं। श्रीभट्टजीके हृदयमें आनन्दरूप भगवान् स्वयं ही अपनी ह्लादिनी-नाम्नी आनन्दशक्तिको निमित्त बनाकर, प्रिया–प्रियतम राधाकृष्णके अखण्ड ध्यानके रूपमें प्रकट होने लगे। उनके हृदयमें एक विलक्षण तेज सदा उदित रहता। उनकी समग्र भोगवासना निवृत्त हो गयी। उपासना एवं तपसे इन्द्रियाँ एवं मन अन्तर्मुखी हुए अन्तःस्रावी आनन्दामृतमें डूबने लगे।

उनका मन शान्त एवं एकाग्र रहने लगा। नयन आन्तरिक आनन्दसे झुके अर्द्ध-निमीलित रहते। भूतशुद्धिसे शरीरसे तेजका स्फोट होने लगा। वे जब नेत्र खोलते, तो भीतरी तेजोमण्डल बाहर भी, सर्वत्र सभीमें भरा दृष्टिगोचर होता। उन्हें सम्पूर्ण विश्व सत्ता ही एक अभूतपूर्व आनन्द-प्रकाशमें तैरती दृष्टिगोचर होती। धीरे-धीरे काल गतिको तो बारह वर्ष व्यतीत करने ही थे। श्रीभट्टजी महाराज ठीक बारह वर्ष पश्चात् मानसीगंगामें स्नानकर अपने गुरुजीके पास पहुँचे। वे सचैल वस्त्रोंमें ही, जलमें भीगे थे। गुरुदेवने अपने ध्यानस्थ नेत्रोंमें परम आत्मीयता भरकर श्रीभट्टकी ओर निहारा और वही प्रश्न पुनः पूछा–

"बेटा ! तेरी द्वादशवर्षीया भक्ति-साधना सम्पूर्ण हुई। बोल, तुझे मेरे स्थानपर क्या दीखता है ?"

इस बार श्रीभट्टजी, जब अपने पू. गुरुदेवके सम्मुख खड़े थे, तो उन्हें अपने गुरुके स्थानपर एक विलक्षण तेजोमण्डल अनुभवमें आ रहा था। वह तेजोमण्डल सर्वदेवमय था। ब्रह्माजी, भगवान् विष्णु, रुद्र, इन्द्र, सारे दिक्पाल, सूर्य, पवन, वरुण, गणेश, कार्तिकेय आदि सभी देवगण उस तेजस्वी मण्डलमें विराजित थे। श्रीभट्टजीने अपने गुरुको साष्टांग प्रणाम करने के पश्चात् निवेदन किया – "गुरुदेव ! आप तो सर्वदेवमय परम सत्त्वरूप विग्रह हो। आप अनन्त तेज हो, अनन्त बल हो, अनन्त ऐश्वर्य हो। प्रभो ! आपकी ही कृपाशक्तिसे यह समग्र विश्व और इसमें निहित जीव-समुदाय संचालित हो रहा है। आप सर्वसमर्थ, सर्वव्यापी, एवं सर्वज्ञ हो। मैं आप-जैसा गुरु पाकर धन्यभाग्य हूँ ।"

श्रीभट्टजीकी स्तुति उनके पू. गुरुदेव सुनते रहे। जब श्रीभट्टजी बोलकर शान्त हो गये, तो गुरुजीने पुनः कहा – "बेटा ! अभी तुम्हारी साधना पूर्ण नहीं हुई। जाओ, पुनः बारह वर्ष इसी प्रकार श्रीगिरिराज महाराजकी परिक्रमा करो। सावधान रहना, इस बार और शक्तिशाली विक्षेप एवं विघ्न आवेंगे। विचलित मत होना और साधनाका भूलकर भी त्याग मत कर देना।"

श्रीभट्टजीने अपने पू. गुरुदेवको साष्टांग प्रणाम किया और चल पड़े पुनः श्रीगिरिराज महाराजकी परिक्रमा करने ।

इस बार परिक्रमा करते-करते श्रीभट्टजीके पास अनेक सिद्धियाँ आयीं। श्रीभट्टजीको तो भगवत्प्रेमामृतकी लगन थी। प्रेमीभक्त इन अणिमादि सिद्धियोंकी तो बात ही क्या, मोक्षरूप सिद्धि भी नहीं चाहता। श्रीभट्टजीने इन सिद्धियोंको भगवत्प्रेमके सामने अत्यंत तुच्छ समझकर इनकी ओर देखा ही नहीं।

श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं –

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ।।११।१४।१४।।

"मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले मेरे प्रेमीभक्त मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रासन, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरोंका आधिपत्य, योगकी सब सिद्धियाँ और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते ।"

इसके पश्चात् श्रीभट्टजीको अनेक ऋषियों, मुनियोंका सान्निध्य मिलने लगा। सनकादि ऋषियोंने उन्हें अविच्छिन्नरूपसे शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान दिया। वे आत्मरतिमें नित्य स्थित रहने लगे। उन्हें आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमें श्रीराधाकृष्ण भगवान् ही विराजमान हैं – यह अनुभव होने लगा। ऐसी भक्तिसे

मुक्ति उनके करतलगत हो उठी। श्रीभट्टजी अब अपने तन एवं मनको भगवान्की पूजन-सामग्री समझकर बाह्य एवं मानस दोनों प्रकारसे विश्वरूप भगवान्की पूजा करने लगे।

श्रीभट्टजी अपने समस्त लौकिक एवं वैदिक कर्म भगवान्में अर्पण करके अपने प्रियाप्रियतम राधाकृष्ण भगवान्का अखण्ड स्मरण करने लगे । वे सब सिद्धियों और आत्मज्ञानसे निरपेक्ष उसी प्रकार दीन एवं अकिंचन बने रहे। वे अपने गुरुकी आज्ञा अक्षरशः पालन कर रहे थे।

इस बार उन्हें क्षुधाकष्ट नहीं हुआ। जैसे ही क्षुधानुभव होता, कहीं-न-कहींसे भिक्षा अपने-आप ही आ जाती। जब भी उन्हें शीतादिका प्रकोप अनुभव होता, व्रजवासीजन धूनीकी व्यवस्था कर देते, उन्हें वस्त्र ओढ़नेको मिल जाते। वर्षाऋतुमें लोग तम्बू तानकर उनका वृक्षके नीचे आश्रयस्थल निर्माण कर देते।

काल बीतते क्या देर लगती है। बारह वर्ष पलक झपकते व्यतीत हो गये। इस बार तपके साथ आत्मज्ञानके आलोकसे भरे श्रीभट्टजी अपने गुरुदेवके सम्मुख खड़े थे। श्रीभट्टजीने बारह वर्ष तक जो साधना की थी इससे वे सर्वथा फल एवं आसक्तिसे रहित हो गये थे। मानसीगंगामें स्नानकर वे जैसे ही गुरुदेवके चरणोंमें काष्ठवत् गिरे, गुरुदेवने वही प्रश्न किया – "बेटा, श्रीभट्ट ! तू तो ज्ञानी हो गया रे ! मेरे रूपमें तुझे क्या अनुभव हो रहा है ?"

श्रीभट्टजी हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए बोले – "गुरुदेव ! आप परमहंसोंके प्राप्य-स्थान हैं, जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण हैं, आप जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको नित्य जानते हैं। सर्व स्फुरणाओंसे रहित ब्रह्मपद आप ही हैं। आप पंचभूतोंका संघात शरीर कदापि नहीं हैं।"

"जो मन और वाणीसे अगम्य हैं, वरं जिसके साक्ष्यमें समस्त मन अस्तित्व पाता है एवं जो सम्पूर्ण वाणियोंका द्रष्टा है, जिसका शास्त्र 'नेति', 'नेति' कर निरूपण कर रहे हैं, जिस अजन्मा देव-देवेश्वर अच्युतको 'आदि-पुरुष' कहते हैं – हे गुरुदेव ! वे आदि-पुरुष आप ही हैं। जिस सर्वस्वरूप परमेश्वरमें यह समस्त संसार रज्जुमें सर्पके समान प्रतिभासित हो रहा है, उन अज्ञानातीत, सच्चित्-तज्ज्ञोमय, पूर्ण सनातन आपको मैं प्रणाम करता हूँ।"

श्रीभट्टजीके गुरुजी उनकी स्तुति सुनते गये, एवं मन्द-मन्द मुसकाते रहे। तत्पश्चात् पुनः अत्यंत स्नेहसनी वाणीमें बोले – "बेटा ! अभी तेरी साधना पूर्ण नहीं हुई; जाओ, इसी प्रकार और बारह वर्ष अयाचित काष्ठमौन व्रत लिये पुनः श्रीगिरिराज महाराजकी परिक्रमा करो ।"

श्रीभट्टजीने अपने गुरुदेवको पुनः साष्टांग प्रणाम किया। वे सब अभिमानोंसे

सर्वथा रहित थे।

इस बार यात्रा करते-करते उनकी विचित्र दशा होने लगी। उनके मुखसे तो अनवरत 'राधाकृष्ण' नाम निकलता ही था, उनके रोम-रोमसे उन्हें 'राधाकृष्ण' नाम-ध्वनि उच्चारित होती सुनायी पड़ने लगी। वे जिस वृक्षके नीचे विश्राम करते, उस वृक्षके पत्ते-पत्तेमेंसे उन्हें 'राधाकृष्ण', 'राधाकृष्ण' सुनायी पड़ने लगता। यह नाम-ध्वनि अत्यंत सुमधुर, सुरीली होती। कभी लगता, जैसे सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक अव्यक्त वादक हजारों श्रीतार वाद्य बजा रहे हैं, और उस तार-वादनमें अनुस्यूत परम मधुर 'राधाकृष्ण' नामोच्चारण हो रहा है।

श्रीभट्टजी नाम-ध्वनि सुनकर ऐसे मस्त होते कि परिक्रमा करते उनके पद नृत्य करने लगते। कभी भट्टजीके चित्तमें उस नाम-ध्वनि-श्रवणसे भगवद्विरहकी ऐसी दारुण वेदना उत्पन्न होती कि वे व्याकुल होकर अपने देहकी सुधि ही भूल जाते।

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रेमका स्रोत है, क्योंकि जीव परमानन्दस्वरूप परम प्रेमरूप भगवान्का ही सनातन चिदंश है, परन्तु विषयोंके प्रति वृत्तियोंके अनवरत प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो जाती है और इसीसे वह प्रेम, दुःख उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो जाता है। इसी कारण उसके मनमें कामनाएँ प्रज्वलित होती रहती हैं एवं परमात्ममुखी दिव्य प्रेमस्वरूपका प्रकाश नहीं होता। प्रेमके दिव्य स्वरूपके प्रकाशके लिये उसकी विषयाभिमुखी वृत्तियोंकी गतिको पलटकर मात्र ईश्वराभिमुखी करनेकी आवश्यकता है। श्रीभट्टजीने विषयोंका स्वरूपसे तो त्याग कर ही दिया था, अब तो भगवन्नामका भीतरसे ऐसा विशुद्ध रस-विस्फोट हुआ कि उससे विषयोंकी समग्र आसक्ति ही बीज सहित नष्ट हो गयी। अतः अब तो उनका हृदय भगवत्प्रेमका दिव्यधाम ही बन गया। अमृतका स्वाद चखनेवालेकी जैसे फिर अन्य रसपर दृष्टि ही नहीं जाती, इसी प्रकार हृदयमें भगवत्प्रेमरसका स्वाद चखते ही उनकी ब्रह्मज्ञान एवं आत्मरतिमें रमी हुई बुद्धि भगवान्की लीला, रूप, एवं गुणोंमें पूर्णतः आसक्त हो गयी। उनमें प्रिया-प्रियतमकी लीलाओंके स्फुरणसे उत्पन्न प्रेमके दिव्य भाव स्वतः प्रकट होने लगे। श्रीभट्टजीका रोम-रोम परमानन्दसिन्धु बना उत्ताल प्रेमानन्द-तरंगोंमें लहराने लगा। यदा-कदा उनका चित्त एकदम द्रवित हो जाता और उनके नेत्रोंसे झर-झर अश्रुप्रवाह फूट पड़ता। कभी-कभी ऐसा सात्विक कम्पोदय होता कि वे थर-थर काँपने लगते। कभी उनके सभी अंग जड़िमा-भावसे जड़ हो जाते। कभी इतना स्वेद होता कि उनके वस्त्र तक भीग जाते।

जिस प्रकार हम लोग घोर तमोगुणमें डूबकर सोते हैं, वैसी निद्रा तो

उन्हें कभी आती ही नहीं थी, भगवान्की अखण्ड स्मृतिमें उनकी निद्रा भी विचित्र चेतनायुक्त होती थी।

अन्ततः, एक दिवस वह क्षण भी आ गया, जब श्रीभट्टजीको गिरिराज-परिसरमें विचरण करते भगवान् राधाकृष्णके दर्शन हो गये। श्रीगिरिराजके परिसरमें एक निकुंजमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधाजीसहित झूला झूल रहे थे, और सखियाँ उन्हें झूला झुला रहीं थीं। श्रीभट्टजी अपने इष्टदेवके दर्शन प्राप्तकर कृतकृत्य हो गये। उनका सूक्ष्म भावशरीर उसी क्षण गोपीदेह बना, बस झूलनोत्सव लीलामें उन सखियोंके संग सम्मिलित हो गया। अब तो श्रीभट्टजीका संसार ही बदल गया। उन्हें अपने प्राकृतदेहकी तो सर्वथा विस्मृति ही हो गयी और वे अपने अप्राकृत भावदेहमें ही दिन-रात तल्लीन रहने लगे। वे चलते थे, परन्तु उनका आधार प्राकृत पृथ्वी नहीं थी, अप्राकृत गोलोककी धरा ही उनका आधार थी। उनका गिरिराज-परिसर अब प्रिया-प्रियतम भगवान् राधाकृष्णकी अभिनव रसमय लीलाओंकी विलासभूमि था। श्रीभट्टजीकी परिक्रमा ज्यों-की-त्यों हो रही थी, परन्तु अब परिक्रमा करनेवाला 'श्रीभट्ट' नामक देहगत अहंकार नहीं था, अपितु कोई परम रसमयी भगवल्लीलाकी पात्रा गोपी ही उनके शरीरको यंत्र बनाकर उन्हें परिक्रमामें दौड़ा रही थी। रात-दिवस उनके अन्तःकरणमें भगवल्लीलाओंका कोई-न-कोई उन्मेष चलता ही रहता। उनकी लीलानुभव करनेवाली वृत्तिका तार कभी नहीं टूटता था। उन्हें अविच्छिन्नरूपसे परम् रसमयी लीलाओंका उन्मेष होता ही रहता था। श्रीभट्टजीके निर्मल चिदाकाशके अणु-अणुमें अनन्त लीलानिकेतन रसिकशेखर भगवान् श्रीकृष्ण भर गये। उनके लौकिक एवं अलौकिक दोनों देहोंके श्वास-प्रश्वास राधाकृष्ण ही हो गये। उन्हें अपने प्राणोंके प्रत्येक स्पन्दनमें भगवान् राधाकृष्णका लीला-विहार ही अनुभव होता था। उनके सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सब, मात्र प्रिया-प्रियतमके ही निर्मल रस-प्रकाशसे झलमल कर रहे थे। जल-कुण्डोंमें उन्हें प्राकृत जलके स्थानपर प्रियाप्रियतमका प्रेमरस ही परिपूर्ण भरा दृष्टिगोचर होता। पृथ्वीका कण-कण प्रिया-प्रियतम राधाकृष्णकी छबिके आलोकसे झलमलाता दिखायी पड़ता। इतना ही नहीं, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें उन्हें साक्षात् उनके प्रिया-प्रियतम राधाकृष्ण ही देहधारण किये दीखते। कभी-कभी तो देह दीखना ही लुप्त हो जाता, उस समय उन्हें सर्वत्र अखण्ड प्रत्यक्ष राधाकृष्णके दर्शन होते रहते। इस प्रकार उनकी बुद्धि ही विक्षिप्त-सी हो गयी। उनकी बुद्धि उस विलक्षण अप्राकृत रस-प्रवाहमें लहराती प्रपंचकी स्मृतिसे सर्वथा ही जब हट जाती, तो उनके आचरण पागलवत् उन्मादी होने लगते ।

इस प्रकार प्रिया-प्रियतमके लीलारसमें डूबते-लहराते बारह वर्षका काल क्षणोंके समान व्यतीत हो गया। श्रीभट्टजीको तो अब काल-गणनाका भी होश नहीं था, परन्तु संयोग ऐसा हुआ कि गुरु-शिष्यका मिलन ठीक समयपर भगवद्विधानवश हो गया। विगत वर्षोंमें जब उनका मिलन होता था, तो उत्कण्ठातुर अवस्था शिष्यकी रहा करती थी, परन्तु इस बार मिलनकी उत्कण्ठा गुरुमें अधिक थी। मानसीगंगा स्नान करके आते ही, जैसे ही श्रीभट्टजी गुरुजीके चरणोंमें प्रणाम करने झुके, गुरुजीने उछलकर उन्हें अपने आलिंगनमें कस लिया। गुरुजीको न तो श्रीभट्टजी दिख रहे थे, न ही भट्टजी को गुरुजी । दोनों इस प्रकार मिल रहे थे मानो परस्पर प्रिया-प्रियतम ही मिल रहे हों। जैसे ही गुरु शिष्य प्रगाढ़ आलिंगनमें बँधे, दोनों ही प्रगाढ़ भाव-समाधिमें डूब गये। जब दोनोंको बाह्यज्ञान हुआ, तो गुरुदेवने शिष्यसे गद्गद् कण्ठसे कहा –"जा बेटा ! अब मस्त होकर सर्वत्र व्रजरसका प्रवाह बहा दे।"

कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि आपकी, मेरी अथवा किसीकी भी यदि सेठजी जयदयालजी अथवा श्रीभाईजी जैसे सिद्धसन्तके प्रति पर्याप्त श्रद्धा हो जाय, तो उनके ही रूपमें हमें भगवान्के इसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं, जैसे भक्तप्रवर श्रीभट्टजीको अपने गुरु-शरीरमें हुए थे।

भैया, बात यह है कि भगवान् सर्वत्र हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वे नहीं हों। महान्-से-महान् एवं क्षुद्र-सी-क्षुद्र वस्तु चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन, भगवान् सबमें सब समय पूर्णरूपसे स्थित हैं। आकाशमें, वायुमें, अग्निमें, जल एवं पृथ्वीमें, पृथ्वीसे बने ईंट-पत्थर एवं रेतके छोटे-से-छोटे कणमें, वृक्ष, लता, पौधोंमें, बनियान-कोट-पतलून-दवात-कलम-कागजमें, हमारे सम्पर्कमें आनेवाली सभी वस्तुओंके अणु-अणुमें भगवान् पूर्णतया ओत-प्रोत हैं। जैसे इन्द्रधनुष कुछ होता नहीं, सूर्यकी किरणोंके रंग ही जलयुक्त आकाशमें इन्द्रधनुषकी छटा दिखाते हैं, इन्द्रधनुषको यदि ढूँढा जाए तो वह कहीं भी, नहीं प्राप्त होगा, इसी प्रकार यह जगत् भी भगवान्में ही मायाशक्तिद्वारा भासित हो रहा है। इसके रूपमें सत्य स्वरूप तो भगवान् ही हैं। सच्चे सन्त इस बातको प्रत्यक्षवत् जानते-समझते हैं। सच्चे सन्तोंको तो अपनी आत्मामें ही नहीं, अपने शरीरके हाड-मांस-रक्त-मज्जामें, अपने मलिन मल-मूत्रतकमें भगवान्के सिवा कुछ भी नहीं दिखता। श्रुति कहती है – ***'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यांजगत्',*** 'जो कुछ भी दृश्य है, जगत् है, वह सब मात्र परमात्मा ही है।' सच्चे सन्तकी यह दृष्टि निर्भूल एवं अखण्ड-अटूट होती है। दूरकी वस्तु छोड़ें, हम जिससे अनवरत, अविच्छिन्न रूपसे जुड़े हैं, क्षणभरके लिये भी जिसे भूल नहीं पाते,

भूलना चाहते भी नहीं, जो हमारे लिये अतिशय प्यारकी वस्तु बना हुआ है, सच्चे संत एवं महात्माको उस अपने शरीरमें नखसे शिखापर्यन्त भगवान्-ही-भगवान् भरे दृष्टिगोचर होते हैं।

सन्तके इस अनुभवका श्रुति समर्थन करती है। वह कहती है -

'स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः' (बृहदारण्यक)

हमारे शरीरमें भगवान् नखके अग्रभागसे शिखापर्यंत परिपूर्ण भरे हैं। हममें और सच्चे सन्तमें इतना ही अन्तर है कि हम इस ज्ञानसे पूर्णतया कटे हैं, भगवान्के स्थानपर हम अपनी 'मैं' - सत्ता, अहंकारको भरा अनुभव करते हैं और सच्चे भक्तकी दृष्टि अहंकारके स्थानपर भगवत्सत्ताका अनुभव करती होती है। इसीलिये सन्त भगवान्से पूरा जुड़ा होता है और हम पूरे कटे रहते हैं।

यही कारण है कि संत सर्वसमर्थ हैं, जगत्में जो बात सबके लिये असंभव मानी जाती है, सन्त उसे क्षणके लाख-करोड़वें हिस्से जितने समयमें सम्पादित कर सकते हैं। सन्तोंकी शक्तिकी कोई सीमा ही नहीं, क्योंकि वे स्वयं तो कुछ होते ही नहीं। उनके रूपमें भगवान् ही होते हैं। वैसे तत्त्वतः हमारे रूपमें भी भगवान् ही हैं, परन्तु हम अपने स्वरूपमें जीवगत अहंकारको ही देखते हैं और शरीरगत अल्पशक्तिको ही अपनी शक्ति मानते हैं। सन्तोंके शासनका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। संत ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं। स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्के जितने भी शासक हैं, उन सभीके शासक सन्त हैं। सन्त असंख्य विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न होते हैं। सबका सब कुछ उनके सम्मुख अवगुण्ठन-रहित है। वे सर्वानुभू: हैं।

भैया ! मेरे पास इसे प्रमाणित करनेका कोई अकाट्य तर्क तो है नहीं, परन्तु यदि आप मेरे विश्वासको अपना विश्वास बना सकें, तो निर्भूल मानलें कि सेठजी एवं भाईजी इसी महामहिम कोटिके सन्त हैं। उनसे हमारा निकटका परिचय है और उनसे हमारी आत्मीयता है, यह भगवान्की हमपर महान् कृपा है।

भैया ! यदि आप मेरा कहना मानकर नियम कर सकें तो, दस-बीस, पचास-सौ बार जितनी भी देर, सर्वथा आसानीसे करना संभव हो, यह भावना करें कि श्रीसेठजी एवं भाईजी – ये दो सन्त साक्षात् भगवान् ही हैं। इस भावनाको करते समय हमारे द्वारा संत-भगवान्के प्रति उतना ही सम्मान, उतना ही प्रेम, अपनत्व, एवं त्याग समर्पित होना चाहिये, जितना साक्षात् प्रभुके हमारे समक्ष होनेपर, हम उन्हें समर्पित करते। सन्तोंमें प्रभुकी ही पूरी सत्ता भरी है, इसकी हमारे चित्तमें इतनी जीवन्त धारणा होनी चाहिये कि हमें उनमें उतना ही निर्दोषताका अनुभव होने लगे, जितनी निर्दोषता हमें अपने इष्टके हमारे

सम्पर्कमें आनेपर उनमें भरी अनुभव होती। हमारा अन्तःस्तल संतरूप भगवान्के चरणोंमें लुट जाना चाहिये। उनकी तुच्छ-से-तुच्छ सेवा करके भी हमारो रोम-रोम आनन्दसे नृत्य कर उठे।

भैया ! सचमुच यदि ऐसा हो जाय, तो निश्चय ही इनकी कोटिके सन्तोंमें हमें भगवान्के साक्षात् दर्शन होने संभव हैं। सन्त अतिशय दयालु होते हैं। फिर हम तो इनके सब प्रकारसे आश्रित हैं, स्वजन हैं, ये हमें कदापि निराश नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है, भले कुछ विलम्ब हो, हमारी सुनवाई हो ही जायेगी।

सन्त तो अपने वस्तुगुणसे ही हमें कल्याण-मार्गकी ओर ले जावेंगे, उनका वस्तुगुण हमारी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा भी नहीं रखता, परन्तु इसमें थोड़ा काल अवश्य लग सकता है। निश्चय ही मानिये, प्रभुने जब ऐसे विलक्षण भक्तिभावसम्पन्न भक्तोंसे हमारा परिचय करा दिया, उनसे हमारी घनिष्ट, आत्मीयता हो गयी, तो हमारा कल्याण तो हो ही गया, ऐसा मान ही लेना चाहिये।

तारादत्त भैया घरसे आ जावें, तो सूचना देनी चाहिये, उन्हें भी मुझे पंत्र लिखना है।

आपका भाई

चक्रधर

।। श्रीराधा ।।

पत्र संख्या - दो

भगवान्‌के चरण-चिह्न (अ)

पत्र-लेखक :

प. पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्त, तारादत्त मिश्र, कलकत्ता

(पूज्य स्वामीजीके अग्रज भ्राता)

स्थान : 'श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास' फर्मकी बाँकुड़ा-स्थित कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)

प्राप्ति-सूत्र : श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि

दिनांक :

कार्तिक शुक्ला सप्तमी, सं. १९९४ वि.
तदनुसार, ता. १ नवम्बर, १९३७ ई.

आलोक

बाँकुड़ाके निवास-स्थानके वातावरणका उल्लेख पूर्व पत्र-संख्या एक में किया जा चुका है।

श्रीदेवदत्तजी मिश्र परमपूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजके ताऊके पुत्र, अग्रज भ्राता थे। वे इनके अभिभावक और संस्कृतके शिक्षागुरु भी थे। श्रीदेवदत्तजीके संरक्षणमें ही कलकत्तेमें इनकी कॉलेज-शिक्षा सम्पन्न हुई थी। सन्यासोपरान्त पूज्य श्रीस्वामीजीने श्रीदेवदत्तजीसे प्रस्थानत्रयी, गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रके शाङ्कर-भाष्य पढ़े थे। श्रीदेवदत्तजी मिश्र उन दिनों कलकत्तेमें ही माहेश्वरी विद्यालयमें शिक्षक थे। श्रीदेवदत्तजी न्यायदर्शनमें 'तीर्थ' थे और संस्कृत व्याकरणके उद्भट विद्वान् थे। ये अतिशय उदार, परिवारके कल्याणको समर्पित गृहस्थ ब्राह्मण थे। इनका सम्पूर्ण परिवार फखरपुर ग्राम, जिला गया, बिहारमें पौरोहित्य कर्ममें नियोजित था।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

प्रिय श्रीदेवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम ! आपका पत्र मिला । जीवन बहुत ही आनन्दपूर्वक

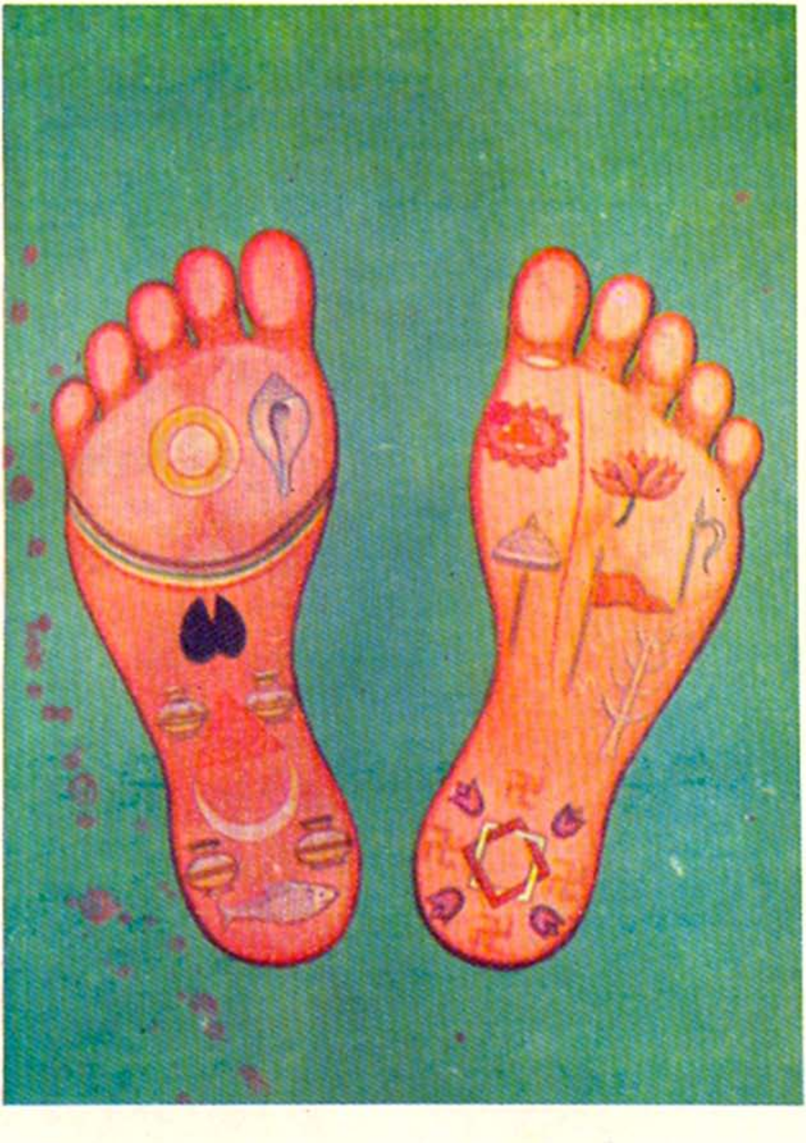

श्रीकृष्ण-चरण

व्यतीत हो रहा है। आज मैं आपलोगोंको सत्संगकी एक अत्यन्त रहस्यमयी सत्य घटना लिख रहा हूँ। कुछ ही वर्ष पूर्व काशीकी एक बंगाली महिलाको भगवान्‌ने स्वप्नमें दर्शन दिये एवं आदेश दिया कि मुझे तेरे साथ होली खेलनी है। उन दिनों बसन्त एवं फागका त्यौहार था। भगवान्‌का स्वप्नादेश पाकर उस महाभागा बंगाली महिलाने रात्रिके समय अपने उपास्यदेवकी मूर्तिके समीप कुछ अबीर एवं गुलाल रख दी। यह अबीर एवं गुलाल सुन्दर रजतपात्रोंमें अनेक रंगोंमें रँगी रखी थी। रात्रिको मन्दिरके कपाट लगाकर, उक्त महिला भी मन्दिरके भीतर ही भगवान्‌की मूर्तिके समीप बैठ गयी। प्रातःकाल जब पुजारीने मन्दिरके कपाट खोले, तो वह महिला पूर्ण बाह्यज्ञानशून्य भावाविष्ट थी। उसके अंगोंमें गुलाल, अबीर पुती थी। भगवान्‌की मूर्ति भी गुलाल एवं अबीरसे पूर्णतया आच्छादित भरी थी। आश्चर्य यह था कि जितनी गुलाल एवं अबीर उन रजतपात्रोंमें समा सकती थी, उससे कई गुनी अधिक सर्वत्र मन्दिरमें, श्रीविग्रहके अंगोंमें, एवं महिलाके चतुर्दिक् लगी, बिखरी थी।

एक आश्चर्य और था कि मन्दिरके निज-गृह-प्रांगणमें जो गुलाल बिखरी थी, उस विकरित गुलालमें भगवान्‌के चरणतलोंके परम मनोहारी चार प्रधान चरण-चिह्न अंकित थे। इससे यह निश्चय ही हो गया कि उक्त महाभागा महिला-भक्तके साथ भगवान् साक्षात् स्वयं होली खेलने आये थे। काशीमें इस बातका तुरन्त ही प्रचार हो गया और लोग दूर-दूरसे उस बाह्यावेशशून्य महिलाके और उनके इष्टदेवके दर्शनार्थ उमड़ पड़े। यह संयोग ही था कि स्वयं श्रीभाईजी भी उस दिवस किसी कार्यवश काशी गये हुए थे। श्रीभाईजीने उक्त महिलाके दर्शन भी किये और उन चारों चरण-चिह्नोंके फोटो भी करवा लिये। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने उन चरण-चिह्नोंकी फोटो मुझे भी दिखलायी थी। ये भगवान्‌के चारों प्रधान चरण-चिह्न इस फोटोमें इतने सुस्पष्ट और अलौकिक सौन्दर्यसहित उभरे हैं कि मैं तो देखकर ही मुग्ध हो गया। ये चिह्न — वज्र, अंकुश, ध्वजा, एवं कमलके थे। यह सुदुर्लभ फोटो श्रीभाईजीके पास आज भी है। ये चिह्न हमारे हाथ-पैरकी रेखाओंके समान सर्वथा नहीं होकर, ठीक प्रस्फुटित कमलके आकार, अथवा वज्रादिकी आकृतिके उभरे चिह्न हैं। कमलका चिह्न देखनेमें स्पष्टतया कमलवत् प्रतीत होता है। इसके सोलह दल भी स्पष्टतया पृथक्-पृथक् व्यक्त दिखाई पड़ते हैं। दलोंमें व्यक्त सुकोमलता ज्यों-की-त्यों दीखती है।

भगवान्‌के चरणोंकी महिमा

भगवद्विग्रहोंमें वैसे तो इनके सभी अङ्ग एक-से-एक बढ़कर सुन्दर हैं,

फिर भी भक्तलोग भगवान्‌के श्रीविग्रहोंके दो ही अङ्गोंको माहात्म्यकी दृष्टिसे महत्व देते हैं। प्रथम, मुखारविन्द और दूसरे, चरणारविन्दोंको। यद्यपि भगवान्‌के सभी अंङ्गोंका सौन्दर्य प्राकृत गुण-संश्लेषसे शून्य होनेके कारण परमातिपरम सुन्दर है, वह शुक-सनकादि एवं नारदादि परम विरक्त मुनिजनोंको भी पूर्णतया मोहित एवं अभिभूत करनेमें समर्थ हैं, फिर भी प्रेमीभक्त अन्य सभी अंगोंकी अपेक्षा चरणारविन्दोंमें अधिक आसक्त रहते हैं। भक्तगण तत्त्वतः भगवान्‌के सभी अङ्गोंको पूर्ण भगवान् का स्वरूप मानते हुए भी भगवान्‌के पावन नामों और चरणोंकी महिमा स्वयं भगवान्‌से भी अधिक माननेके कारण, इन्हें ही सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं। वस्तुतः भक्तगण भगवान्‌के नाम और उनके चरणारविन्दोंपर पूर्णतया न्यौछावर ही हैं। भक्तोंकी मान्यतानुसार तो भगवन्नाम एवं भगवच्चरणारविन्दकी महिमा स्वयं भगवान् भी बखान करनेमें समर्थ नहीं हैं।

"राम न सकहिं नाम-गुण गाहीं"

भक्तोंकी दृष्टिमें भगवच्चरणोंकी महिमाका अपने चारों मुखोंसे स्वयं ब्रह्माजी, साक्षात् वाणीदेवी, पार्वतीजीसहित भगवान् शंकरजी, स्वयं भगवान् नारायण और उनके अवतार वेदव्यासजी भी वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। जिन चरणोंके संस्पर्शसे प्रस्तर-खण्ड बनी गौतम-नारी अहिल्या तर गयी; जिन चरणोंकी धोवनसे पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाली गंगाजी प्रकट हुईं; जिन चरणोंने भगवान् शिवको शिवत्व प्रदान किया, ये ही भगवान्‌के चरण कभी अयोध्या, वृन्दावनादिमें पड़े थे, अतः इनका माहात्म्य सर्वतीर्थ-मुकुटमणि हो गया। ये भगवान्‌के चरण भक्तोंकी दृष्टिमें स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर हैं।

भगवान्‌के चरण-चिह्नोंसे अंकित भू-भागको देखकर बूढ़े अक्रूर प्रेमविभोर हुए रथसे उतर पड़े थे। उनके नेत्र अश्रु-धारा बहाते हुए भगवान्‌के चरण-चिह्नांकित भूभागको पहले तो अभिषिक्त करने लगे, फिर वे उस भू-भागकी मिट्टीमें लोटने लगे थे। उस चरण-पद-तल-स्पर्शित मिट्टीमें लोटनेसे भगवद्भक्त श्रीअक्रूरजीको वही सुख मिल रहा था, जैसा एक भगवद्भक्तको स्वयं भगवान्‌के आलिंगनसे प्राप्त होता है।

भगवान्‌की लाल-लाल चरणांगुलियोंमें विजड़ित राका-चन्द्रमाके समान निर्मल, शीतल, तेजस्वी प्रकाशसे जिस भाग्यवान् भक्तका हृदय एक बार भी यदि आलोकित हो जाता है, उसके हृदयसे मायाजन्य तमका सदा-सदाके लिये ही समूल नाश हो जाता है। इन नखोंसे जो अप्राकृत द्युति झरती है, इस प्राकृत जगत्‌के चन्द्रमासे तो उस द्युतिकी तुलना हो ही नहीं सकती, भगवल्लोकके लाखों-करोड़ों चन्द्रमा भी यदि एकत्रित हों तो भी उस अनिर्वचनीय सुभग

द्युतिके सम्मुख सर्वथा हेय, तुच्छ एवं फीके लगने लगते हैं।

इस भगवच्चरणाविन्दोंमें निहित नख-ज्योत्स्नामें नाम-मात्रका भी कलंक नहीं, कालिमाकी किसी रेखाके संश्लेष-स्पर्शका तो प्रश्न ही नहीं उठता, वह एकरस शीतल, परम कल्याणकारी, सुखद, परमद्युतिमान् होते हुए भी नयनोंको अपलक देखते रहनेके लिये अपनेमें पूर्णतया विजड़ित कर लेती है। पलकोंका वश नहीं रहता कि वे आँखोंपर गिरकर उन्हें उस द्युति-दर्शनसे एक क्षणके करोड़वें भागके कालमानके लिये भी वर्जित, निवृत्त अथवा वंचित कर सकें।

प्राकृत चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना तो घटती-बढ़ती है, वह कृष्ण-पक्षमें लुप्त हो जाती है, परन्तु भगवान्के चरण-नखोंकी ज्योत्स्नाके तो कभी बुझने, लुप्त होने अथवा मन्द होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। यह द्युति त्रिविध तापोंका सदैव नाश करती रहती है। इन भगवच्चरणारविन्दकी भूमिपर अङ्कित छबिका भी कोई भाग्यवान् यदि कभी अनन्त पुण्योदयसे दर्शन पा जावे, तो वह सभी कर्म-बन्धनोंसे सदा-सदाके लिये छूट जाता है। मुक्ति-पद तो उसके करतलगत हो ही जाता है, वह सुदुर्लभ भगवत्प्रीतिको प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है।

भैया ! हमलोगोंने बहुत कालतक भगवान्के रूपको मात्र मायिक माना; हमलोग भगत्तत्त्वको भगवान्के रूप एवं आकारसे परे मानते थे। हमलोग सदैव यही समझते रहे कि नीची श्रेणीके लोगोंके चित्तको एकाग्र करानेके लिये ऋषियोंने भगवान्के अलौकिक रूप एवं गुणोंका वर्णन भर किया है। तत्त्व तो निर्गुण निराकार ही संभव है। जितने भी रूप एवं गुण हैं, वे कितने ही बढ़ा-चढ़ाकर क्यों न वर्णन किये जावें, रूप तो प्राकृत सूर्यके सात रंगों और नेत्रेन्द्रियके संयोगसे ही मनोकल्पित होगा; इसी प्रकार जो भी गुण है, वे अवगुणोंके प्रतिरोधी ही तो होंगे। तत्त्वका इनसे क्या लेना-देना ? तत्त्व तो निर्विशेष, निर्विकल्प, निष्परिणामी, मात्र द्रष्टा एवं साक्षी है। तत्त्व दृश्य एवं परोक्ष भला कैसे संभव हो सकता है ? परन्तु वास्तविकता हमारी बुद्धिके, सोचके परे थी।

श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे महात्माका यदि मुझे सुदुर्लभ संग नहीं मिलता, तो मेरे दृष्टिपथमें भी संभव है, यह सत्य प्रकाशित नहीं ही हो पाता। श्रीभाईजीके अनवरत सत्संगसे मेरे हृदयकी यह भेद-ग्रंथि खुली कि भगवान्का रूप अप्राकृत, अलौकिक है। भगवान्में मायिक जड़-प्रकृतिका संश्लेष भी नहीं है, इसीलिये वे निराकार हैं, परन्तु अपने प्रेमीजनोंके भावानुसार दृश्य होनेकी सामर्थ्य भी उनमें सदैव निहित है, अतः वे पूर्ण सगुण-साकार भी हैं। वे सर्वव्यापी हैं, अतः गर्भमें प्रविष्ट भी हो सकते हैं। श्रीपरीक्षित्जीकी रक्षाके

लिये वे उत्तराके गर्भमें भी प्रविष्ट हुए थे। वे भक्तराज प्रह्लादकी रक्षाके उद्देश्य से जड़ खम्भेसे प्रकट हो सकते हैं। उनके सर्व-मन-विमोहन गुण इतने अनन्त और असमोर्ध्व हैं कि पूर्ण माया-निरस्त शुक-व्यास-नारदादि ऋषि, वशिष्ठ एवं जनक-से ज्ञानी, ब्रह्मा एवं शिव-सनकादि भगवत्कोटिके महानुभाव भी उन गुणोंसे सदैव वशीकृत रहते हैं। भगवान्‌का सगुण-साकार रूपमें बोलना, मुसकाना, रूठना, झगड़ना, मटकना, शास्त्र-विरुद्ध, लोक-धर्म-विरुद्ध व्यवहार करना, सब तत्त्व ही तत्त्व है। तत्त्वसे उसमें कहीं कोई च्युति नहीं। भगवान्‌की छोटी-से-छोटी लीलामें भी, जो हमें नगण्य प्रतीत हो सकती है, उसमें भी पूर्णतत्त्व विशुद्ध रूपमें नृत्य करता रहता है। भगवत्सत्ता समग्रतः विशुद्ध तत्त्वसागर ही है।

देवदत्त भैया तो नैयायिक हैं, उनकी बुद्धि मेरी भक्तिमयी इस बातको कैसे हृदयंम कर पावेगी, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु उन्होंने निरे बालकपनसे ही मेरी बातोंपर अटूट विश्वास किया है। सम्पूर्ण षड्-दर्शन और विशेषकर वेदान्तदर्शनके शांकर-सिद्धान्त पक्षको उन्होंने ही मुझे सांगोपांग पूर्ण मनोयोगपूर्वक अध्ययन कराया है। उनके ही उपदेश एवं अध्यापनसे मैं कट्टर वेदान्ती बना था। अब जब मैं ही यह बात उनको जोर देकर कह रहा हूँ, तो यह बात तो वे मानेंगे ही कि मेरी बातें मात्र भावुक थोथी उड़ान तो कदापि नहीं हैं। वे यह तो मान सकते ही हैं कि कोई-न-कोई ऐसी महत्वपूर्ण अनुभूति उनके चक्रधरको अवश्य ही हुई होगी, जिससे बाध्य हुआ, वह अपने पूर्णतया परिवर्तित भक्तिभाव भरे विचार मुझे समझा रहा है।

चाहे यह बात मैं अन्य किसीके भी गले नहीं उतार सकूँ, परन्तु मेरी तो यह अविचल निष्ठा हो गयी है कि भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपकी, चरण-नख-द्युतिकी एक अति अल्प-सी किरण और सर्व उपनिषदोंका सार सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, दो भिन्न वस्तुएँ कदापि-कदापि नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम एवं अन्य भगवद्विग्रहोंके नाम, ओष्ठ एवं जिह्वाके संयोगसे उत्पन्न होने वाले प्राकृत शब्द-विकारमात्र कदापि नहीं हैं, जिनकी अनवरत आवृत्ति एवं उच्चारण, मात्र मनोनिग्रहका ही साधन एवं हेतु हो। भगवन्नाम उसी प्रकार सच्चिदानन्दघनीभूत विग्रह है, जिस प्रकार भगवान्‌का अवतारकालमें सगुण-साकार स्वरूप है। जो भी भगवान्‌के सगुण-साकार विग्रहमें शक्तियाँ निहित हैं, वे सभी शक्तियाँ भगवान्‌के नाममें भी पूर्णतया निहित हैं।

यद्यपि उन दिनों हमलोग भगवन्नाम-कीर्त्तन एवं जप करनेवालोंको साथ ही भगवान्‌के अर्चा-विग्रहोंकी अर्चाकरनेवालोंको मन्द अधिकारी ही समझते थे।

मैं तो भगवद्भक्तिकी बात करनेवाले एवं भगवान्‌की सगुण-साकार सत्तापर जोर देनेवालेसे बात करना भी नहीं चाहता था। मैं तो ऐसी मान्यता रखता था कि इन सभी मन्द अधिकारियोंकी मान्यताओंपर यदि मैं उलझ गया, तो मैं वास्तविक सत्य तत्त्ववस्तुसे वंचित ही रह जाऊँगा और मेरा यह मानव-जन्म व्यर्थ चला जायेगा।

परन्तु वाह री भगवान्‌की हेतुरहित कृपा ! न चाहनेपर भी श्रीभाईजीसे मेरा बरबस मिलन हुआ और मेरी सम्पूर्ण धारणाएँ आमूल-चूल बदल गयीं। अब तो मेरी सुदृढ मान्यता है कि भगवान्‌का सगुण-साकार विग्रह, सच्चिदानन्दकन्द, परमतत्त्वका सार-स्वरूप है। जबतक जीवपर भगवान्‌के सगुण-साकार भगवद्विग्रहकी कृपा नहीं होती, उसके दर्शन उसे नहीं मिलते, भक्ति प्राप्त नहीं होती, जीव तर्क-वितर्ककी बातें, विचारोंकी उड़ानें भले ही भर ले, उसमें वस्तुतः तत्त्वको आत्मसात् करनेकी योग्यता ही नहीं आती। जो भी साधक भगवान्‌के सगुण-साकार, अप्राकृतवपु, सच्चिदानन्दकन्द विग्रहके परे किसी अन्य सत्य तत्त्वको ढूँढ़ते फिर रहे हैं, वे सचमुच ही माया-भ्रमित हैं और अपने व्यर्थके दुराग्रहसे वास्तविक सत्यसे वंचित ही रह रहे हैं।

श्रीमद्भागवतपुराणमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं :—

निवृत्तर्षैरुपगीयमानात् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात् ।।

"भगवान् श्रीकृष्णके सगुण-साकार स्वरूपके गुण एवं यश इतने मंगलमय हैं कि सम्पूर्ण तृष्णाराशिका समूल नाश कर देनेवाले शिव-ब्रह्मादि, सनक-नारदादि, शुकव्यासादि एवं वशिष्ठ-जनक जैसे ज्ञानीजन भी इन गुणोंका अनवरत गायन करते रहते हैं। भवरोग एवं त्रिविध तापोंकी औषधि ढूँढनेवाले मुमुक्षु भी, इन्हें अमृतवत् सेवन करते हैं और परम मनोरम एवं रमणीय मानते हुए विषयीजन भी इन्हें अपने कानोंसे दूर नहीं करते। फिर आत्मघाती पुरुषके सिवा ऐसा कौन है, जो परमोत्तम-चरित्र भगवान्‌के गुणगान्‌से विरत रहे ?

सचमुच ही विगत वर्षोंमें हम लोग आत्महत्यारे ही रहे, जो भगवान्‌के सगुण-साकार विग्रहके प्रति उदासीन रहे ।

यहाँ एक और रहस्य उद्घाटित कर दे रहा हूँ। हम लोगोंने गर्ग-संहितादि पुराणोंमें गोलोकादिका एवं देवीभागवतमें भगवतीके दिव्य लोकका जब वर्णन पढ़ा था, उस समय यही हमारी मान्यता थी कि भक्त ऋषियोंने प्राकृत संसारकी वस्तुओंको देख-सुनकर, उनमें अलौकिकताका समावेशकर, ये वर्णन कर दिये हैं। मैं तो इस सभी वर्णनको व्याजस्तुति माना करता था। काव्यमें अतिशयोक्ति

अलंकारका प्रयोग होता ही है। परन्तु आज तो मुझमें यह भी समझ उदय हो रही है कि मेरी पुरातन धारणा सर्वथा भ्रममूलक, अश्रद्धा एवं अविश्वासभरी, नास्तिकताकी द्योतक थी। पुराणोंका अक्षरशः वर्णन सत्य है।

सभी पुराण समाधिभाषामें लिखे गये ग्रन्थ हैं। इनमें अनेक कल्पोंके प्रसंग वर्णन किये गये हैं। कल्पान्तरमें देशगत भूगोल, प्राकृत वस्तुएँ, उनके आकार-प्रकार नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। हमें हमारे इस कल्प और युगमें कुछ बातें वैसी नहीं मिलें, जैसी अनेक पुराणोंमें वर्णित हैं, वे वर्णन हमें युक्तिसंगत भी नहीं लगें, परन्तु इनकी सत्यतामें कहीं किञ्चित् भी न्यूनता सर्वथा नहीं है। जैसे सगुण-साकार भगवद्विग्रह हैं, इसी प्रकार अप्राकृत भगवल्लोक भी हैं। संसारमें हमें जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमें उस सर्वथा अप्राकृत, सच्चिन्मय परमधामकी छाया मात्र है। उदाहरणस्वरूप, जैसे हम एक सुन्दर नगर देख रहे हैं, नगरमें सुन्दर गलियाँ हैं, पथोंके दोनों ओर सुन्दर हरे-भरे पुष्पाच्छादित वृक्ष हैं। नगरमें चार-दिवारियाँ हैं, बड़ी-बड़ी पिरोलें हैं, सुन्दर उपवन हैं, इनमें बन्दनवारें टँगी हैं, सुन्दर बाग-बगीचे हैं। ये सभी वस्तुएँ आधुनिक नगरोंमें होनी संभव हैं। परन्तु यहाँ सभी वस्तुएँ मायिक हैं। आज निर्मित हुईं, कल विनष्ट हो जानेवाली हैं। आज नवीन निर्माण सुन्दर प्रतीत हो रहा है, कल बासी होकर कुरूप प्रतीत होने लगेगा और तत्पश्चात् खण्डहर हो सकता है। ये सभी वस्तुएँ, इस क्षणभंगुर प्रकृतिरूपा मायामें, अप्राकृत चिन्मय भगवल्लोकके किसी नगरकी छायारूप हैं। इनमें हमें जो भी क्षणिक सौन्दर्य एवं रमणीयता आभासित हो रही है, वह सब सौन्दर्य अप्राकृत भगवल्लोकके सच्चिदानन्द तत्त्वका प्रकाशमात्र है।

इसी प्रकार इस त्रिगुणात्मक माया-जगत्‌में जितनी भी विशिष्ट स्वर्ण, रजत, हीरे, पन्ने, माणिक, मोती आदि विभूतियाँ हैं, वे सब भी उस अप्राकृत भगवद्धामगत विभूतियोंकी छाया-मात्र हैं। संसारमें नवीन आविष्कार कुछ भी नहीं होता। नित्य विद्यमान सच्चिन्मयधामकी वस्तुएँ ही युगधर्मानुसार छायारूपमें प्रकट एवं तिरोहित होती रहती हैं। जहाँ पूर्वकालमें मंत्र-शक्तियोंसे मनुष्य दूरदर्शन, दूरश्रवणकी शक्तियाँ अर्जित कर लेता था, अब वही कार्य इस मशीनयुगमें दूरश्रवण टेलीफोन एवं दूरदर्शन टेलीविजनद्वारा हो रहा है। भगवद्धामगत नित्य शक्तियाँ कभी अंशतः किसी विशिष्ट आविष्कारके रूपमें प्रकट हो जाती हैं, फिर अप्रकट होकर लुप्त हो जाती हैं। पहले यहाँ पुष्पक विमानोंमें देवलोकके प्राणी आवागमन करते थे, वहाँ अब जेट इंजिनोंद्वारा संचालित बृहत्काय हवाईजहाज यात्राओंमें प्रयुक्त हो रहे हैं; मशीनी रॉकेटोंका

युग प्रचलित है। अभी भी बहुतसे ऐसे चमत्कार, जिनकी हम आज कल्पना भी नहीं कर पा रहे, प्रकृतिके गर्भमें अप्रकट, अप्रकाशित विद्यमान हैं। कालान्तरमें वे प्रकट हो भी सकते हैं, और नहीं भी हों, सब कुछ भगवदिच्छापर निर्भर करता है। परन्तु भगवान् स्वयं और उनका भगवद्धाम ऐसा विलक्षण सर्वशक्ति-गर्भगृह है, जहाँ सर्वज्ञान, सर्व-शक्तियाँ, सर्वसत्ता, सर्व-आनन्द नित्य विद्यमान है।

सृष्टिमें पहले जिन रोगोंके बारेमें कभी सुना ही नहीं था, वे नये-नये मारक रोग महामारीका रूप लेकर प्रकट हो जाते हैं और कुछ काल पश्चात् उनके चमत्कारिक निदान भी सम्मुख आ जाते हैं। ऐसी असंख्य औषधियाँ आज भी विद्यमान हैं, जिनका गुण-प्रभाव हमें अज्ञात है। सृष्टिमें नया बीज कुछ भी नहीं बनता। जो पूर्वसे है, परन्तु लुप्त है, वह कभी-कभी प्रकट हो जाता है। योगी भी नया बीज नहीं बना सकता। जो कुछ हमें भूतकालमें इस विश्वमें देखनेको मिला था, अथवा वर्त्तमानमें दिखायी पड़ रहा है, भविष्यमें दिखाई पड़ेगा, वह सब भगवान्‌के दिव्यधाममें सत्य, नित्य प्रत्यक्ष, प्रकट है, उसकी छाया ही मायाजगत्‌में पड़कर मूर्त्त, अमूर्त्त होती रहती है। भगवद्धाम ऐसा विलक्षण है कि समग्र आविष्कारोंकी कल्पनाएँ भी वहाँ नित्य मूर्त्त एवं वर्त्तमान् हैं। भगवान्‌का अलौकिक धाम भगवान्‌के चरणोंमें ही नित्य स्थित है।

ये बातें ऐसी हैं कि सर्वसाधारण तो इन्हें गप्प ही कहेगा। अतः भगवान्‌के प्रति, शास्त्रोंके प्रति, सन्तोंके प्रति श्रद्धा करनेवाले लोगोंको ही ये बातें सुनानी चाहिये। असूयादोषसे रहित होनेकी इसमें प्राथमिक आवश्यकता है। अर्जुनमें असूया दोष न पाकर ही भगवान्‌ने उनको अपना सगुण-साकार विराट् स्वरूप दिखाया, समझाया था। इसीलिए शास्त्रोंने निर्गुणरूपको सुलभ बताया है, सगुणरूपको सही-सही समझनेवाला कोई एक विरला श्रद्वावान् ही संभव है। मेरे प्रति बालकपनसे आपका अटूट-सा विश्वास देखकर ही मैंने ये सब बातें आपको लिखी हैं।

प्राकृत जगत्‌की बुद्धि भले ही इसे नहीं समझ पावे, परन्तु सत्य यही है कि भगवान्‌का लोक तो भगवान्‌के चरणोंमें स्थित है और भगवान् अपने लोकमें स्थित हैं। कोई कह सकता है, भाई ! चरण तो भगवान्‌के अंग-अवयव हैं और भगवान् अवयवी हैं, फिर जो धाम किसीके अवयवके एक भागमें स्थित हो, उसमें समग्र अवयवी कैसे निवास करेगा ? 'अवयवीमें' भगवद्धाम ऐसे ही ऊट-पटांग है। वास्तवमें भगवान् और भगवद्धाम – दो हैं ही नहीं। भगवान् और भगवान्‌के चरण, भगवान् और भगवान्‌के हाथ, पेट, वक्षस्थल, सब पूर्ण भगवान् ही हैं। अतः सब सभीमें हैं। चरणोंमें मुख है और मुखमें चरण हैं। भगवान्‌के सभी अंग-अवयव,

रूप, आकार, उनके गुण, उनका धाम, उनका नाम सब अप्राकृत, चिन्मय, सच्चिदानन्दस्वरूप, पूर्ण हैं। अतः भगवान्‌के नाममें ही भगवान्‌के चरण और उनका धाम पूर्णरूपेण समाहित है। ऐसा ही उनके अंग-अवयव एवं धामकी बात माननी चाहिये।

इसी प्रकार भगवान्‌का श्रीविग्रह भी मनुष्यका-सा होते हुए भी सर्वथा ही विलक्षण है। प्रकृतिका सम्पूर्ण सौन्दर्य भगवान्‌के श्रीविग्रहके रोमके सौन्दर्यकी छाया-भर है। जब छाया ही इतनी सुन्दर है, तो विशुद्ध भगवद्देहका रोम कितना अभूतपूर्व सुन्दर होगा, यह कल्पनातीत बात है। फिर जिनका रोम-मात्र इतना सुन्दर है, उसका मुख, नेत्र, ललाट, कपोल, वक्ष, हाथ कितने सुन्दर होंगे, यह सब अवर्णनीय है। इसका तो चिन्तन ही असंभव है। बुद्धि भी विचार करते-करते थक जाती है।

भगवान्‌के सभी विग्रहोंके दिव्य धाम यद्यपि तत्वतः एकमेव सच्चिदानन्द-घनरूप ही हैं, परन्तु फिर भी विग्रहोंके अनुसार उनमें भेद भी हैं। वैसे शास्त्रोंमें भगवान्‌के विग्रहोंमें अंश एवं अंशी ऐसा भेद किया है, परन्तु ये भक्तोंकी अपनी-अपनी निष्ठाको सर्वोच्च मान्यता देनेकी ही बातें हैं। भगवान् तो सभी भगवान् हैं। श्रुति कहती है :-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

भगवान्‌के सभी विग्रह पूर्ण हैं और पूर्णमें कहीं कोई अंश-अंशी हो ही नहीं सकता ।

यहाँ इतनी ही भिन्नता है कि श्रीरामके चरणोंमें भक्तको साकेतके दर्शन होंगे और भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें गोलोकके; इसी प्रकार भगवान् नारायणके चरणोंमें हमें वैकुण्ठके दर्शन होंगे। वैसे गोलोक, वैकुण्ठ एवं साकेत – तीनों कोई पृथक् भूखण्ड कदापि नहीं हैं। यदि ये भूखण्ड ही होते तो भगवद्विग्रहके चरणोंके एक सुकोमलतम भागमें उनकी स्थिति भी कैसे होती। अतः यही मानना चाहिये, कि तीनों ही पूर्ण सच्चिदानन्द तत्त्व हैं, परन्तु भक्तोंकी निष्ठासे सभी पृथक्वत् दीख रहे हैं।

सारकी सार बात यही है कि जिसने भगवान्‌के चरण-कमलोंका आश्रय ले लिया, उसने सभी प्रकारके ऐश्वर्य, विभूतियाँ, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, मुक्ति और प्रीति – सभी निधियोंको कर-तलगत कर लिया। इसमें तनिक भी सन्देह सर्वथा-सर्वथा नहीं करना चाहिये।

आजका यह पत्र बहुत ही लम्बा हो गया है अतः आज तो इस विषयको

विराम दे रहा हूँ। यदि जीवित रहा और भगवान्‌की अन्तर्मनमें प्रेरणा हुई तो, आगेकी बातें आगामी पत्रमें दी जा सकती हैं।

मैं पुनः आप दोनों भाइयोंसे करबद्ध विनीत प्रार्थना करता हूँ कि भगवान्‌के नामका अनन्य आश्रय अवश्य लिये रहें। भगवान्‌का नाम सम्पूर्ण भगवान् है। यह निष्ठा हलकी नहीं करें। भगवान्‌की नामकृपा आपका सब पथ आलोकमय बना देगी। सारा रास्ता पूर्ण सुखकर हो जायेगा।

आपका
चक्रधर

।।श्रीराधा।।

पत्र संख्या - दो

(एक ही विषयके आठ पत्र होनेसे उन्हें एकही पत्रमें संयुक्त कर दिया गया है)

भगवान्‌के चरण-चिह्न (ब)

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें पं. पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक, माहेश्वरी विद्यालय,

बड़ा बाजार, कलकत्ता

स्थान :

श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास नामक

फर्मकी कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)

दिनांक :

मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी वि.सं. १९९४,

तद्नुसार, १५ नवम्बर, १९३७ से

२ जनवरी १९३८ तक लिखे पत्रोंका

सामूहिक संग्रह

प्राप्ति-सूत्र :

श्रीदेवदत्तजी मिश्रके

पत्र-संग्रहसे

प्रतिलिपि किये

गये लेखसे

आलोक

पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका यह पत्र-लेखन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके श्रावण कृष्णा द्वितीयासे श्रावण शुक्ला द्वितीयातक सं. १९९२ में गोरखपुरमें वर्षभरके सत्संगके अवसरपर गीतावाटिकामें दिये गये प्रवचनोंके आधारपर है।

सन्दर्भ

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजके ताऊके पुत्र, अग्रज भ्राता, श्रीदेवदत्तजी मिश्र उनके शिक्षागुरु रहे। ये न्याय-दर्शनमें 'तीर्थ' उपाधिसे

युक्त विद्वान् नैयायिक, संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। नैयायिक होनेसे सगुण-साकार भगवत्तत्त्व पर इनकी आस्था सन्देहयुक्त थी। इन्होंने स्वामीजीको पूर्वाश्रमके छात्रजीवनमें प्रस्थानत्रयी, उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र पढ़ाये थे और उनकी, ब्रह्मज्ञान एवं वेदान्त-दर्शनमें रुचि परिपुष्ट की थी। भविष्यमें श्रीस्वामीजीका रुझान भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके सत्संगसे, पूर्ण रागात्मिका प्रेमाभक्तिकी ओर हो गया और इनकी इष्ट श्रीराधारानी हो गयीं।

पू. स्वामीजीका अपने अग्रज भ्रातासे यह पत्र-व्यवहार उन्हें अपनी भक्ति-भावनासे प्रभावित करनेके हेतुसे ही हुआ है। इसीलिए उन्होंने अनेक पत्रोंकी कड़ीके रूपमें लगातार उन्हें भगवान्‌के सगुण, साकार तत्त्व, रहस्य एवं माहात्म्यका उद्‌बोध कराया है। पाठक निश्चय ही इन पत्रोंसे अपना साधन-पथ चयन कर पावेंगे। इन पत्रोंके प्रकाशनका यही हेतु है।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने श्रावण कृष्णा द्वितीयासे अनेक दिवसों तक भगवान्‌के चरण-चिह्नोंपर प्रकाश डालते हुए गीतावाटिका, गोरखपुरमें वर्षभरके सत्संग-सत्रमें प्रवचन किया था। श्रीभाईजीसे भक्तराज नारदजीकी भेंट भी इन्हीं दिनों हुई थी। यह भी सुना गया है कि श्रीभाईजीने भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके माहात्म्यको दिग्दर्शित करनेकी जिज्ञासा श्रीनारदजीसे भी की थी। कुछ विशिष्ट लोगोंकी ऐसी मान्यता भी है कि इन प्रवचनोंमें जो भी माहात्म्य वर्णित है, उसमें अधिकांश श्रीभाईजीको श्रीनारदजी द्वारा कहा गया था।

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीभुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' आदि विद्वज्जनोंको श्रीभाईजीका यह प्रवचन इतना सारगर्भित लगा था कि इन लोगोंने मिलकर इसे यथाश्रुत यथागृहीत लिपिबद्ध कर लिया था। स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका गोरखपुर-आगमन इस प्रवचनके दो-तीन माह पश्चात् हुआ था। वे आश्विन शुक्ला एकादशीके दिन गीतावाटिका पहुँचे थे। उस समय वे पूर्ण वेदान्तनिष्ठ ज्ञानी थे। बादमें अकस्मात् ही उनमें एकदम परिवर्तन हुआ, और जब उनकी रुचि भक्तिनिष्ठाकी ओर पूरी हो गयी, तो इन्हीं 'माधवजी' आदिसे उन्हें इस प्रवचनकी प्रति उपलब्ध हुई और इसी आधारपर उनका अपने अग्रज भ्रातासे यह पत्र-व्यवहार सम्पन्न हुआ है।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम ! आपके पूर्व पत्रके संदर्भमें भगवान्‌के चरण-चिह्नोंपर ही लिख रहा हूँ ।

भगवान्के चरणोंकी महिमा अनन्त है। इन भगवान्के चरणोंका यदि किन्हीं प्राकृत धराके रजकणोंसे संस्पर्श भी हो जाता है, तो वे महाकृपाधाम रजकण साधारण महत्वहीन धूलि होते हुए भी माहात्म्यमें चिन्मय हो जाते हैं। कोई भगवत्प्रेमी साधक यदि उस महतीकृपाधाम रजका संस्पर्श कर ले, तो उस रजके मात्र संस्पर्शसे ही उसकी जड़ता निश्चय ही विनष्ट हो जाती है। इसमें कालावधिका विलम्ब अधिकार-भेदसे भले ही संभव हो। भगवच्चरणारविन्दोंकी कृपाके बिना भगवद्भक्तिकी प्राप्ति तो सर्वथा असंभव ही है।

जब भी भगवान् किसीपर कृपा करते हैं, तो पहले उसे अपने चरणोंका दर्शन प्राप्त कराते हैं। जिन भगवद्भक्तोंके मस्तकोंको भगवान्के चरणोंकी रज सुभूषित कर चुकी होती है, उन भक्तोंकी चरणरजके लिये देवतालोग भी तरसते रहते हैं। ये देवगण अपनी मर्यादाके रक्षार्थ प्रकट होकर तो उन भगवद्भक्तोंके सम्मुख उपस्थित हो नहीं सकते, अतः वे अतिगोपन भावसे पशु-पक्षी बनकर आते हैं और इन भगवद्भक्तोंकी चरण-रजमें लोटते हैं। इस प्रकार इन महाभाग भगवद्भक्तोंकी चरण-रजका कण पाकर, कृतकृत्य हुए देवगण अपने भाग्यकी सराहना करते हैं। शास्त्रोंमें कहागया है :–

"देवे परिचयो नास्ति यत्पूजा कथं भवेत्"

अर्थात्, जब देवतासे अपना परिचय ही नहीं है, तो फिर उस देवताकी पूजा भला कैसे होगी ? अतः सर्वप्रथम भगवान्के चरणोंके ही भक्तको दर्शन होते हैं, इन चरणोंके दर्शनसे जब भगवद्भक्ति उदय होती है, तो इन चरणोंकी कृपासे ही भगवान्के अन्य अङ्गोंकी प्राप्ति और दर्शन होते हैं।

भगवान्के चरणोंके दर्शनोंके भी पूर्व जब भगवत्कृपा क्रियाशील होती है, तो भक्त-साधकको भगवान्के चरणोंकी पावनतम गंधका घ्राण प्राप्त होता है। भगवान्के चरणोंसे झरती इस परम कल्याणकारी गंधके नासिकामें प्रवेश करते ही साधकका सम्पूर्ण शरीर परम विशुद्ध हुआ भगवद्भक्तिकी ग्राहकताका पात्र हो जाता है।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार चैत्रकृष्णा प्रतिपदा सं. १९८८ वि. तदनुसार, सन् १९३१ ई. में, आजसे लगभग साढ़े छः वर्ष पूर्व काशीमें श्रीविशुद्धानन्दजी नामक एक प्रसिद्ध महात्मासे मिलनेके लिये गये थे। उन दिनों ये लोगोंमें 'गन्धीबाबाके' नाम से विख्यात थे। ये सूर्यविज्ञानके बहुत बड़े पण्डित थे। सूर्यरश्मियोंको काचके एक लैंससे किसी भी वस्तुपर केन्द्रितकर, ये मनचाही गंध पैदा कर देते थे। इसीलिए इनका नाम 'गंधीबाबा' प्रसिद्ध हो गया था।

जब भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इनसे मिले, तो उन्होंने

श्रीविशुद्धानन्दजीसे कहा – "स्वामीजी ! क्या आप श्रीकृष्ण-अंग-गन्ध भी इस सूर्य-विज्ञानसे उत्पन्नकर सुँघा सकते हैं ?"

श्रीविशुद्धानन्दजी हँसने लगे और कहने लगे कि सत्यांशमें श्रीकृष्ण-अंग-गंध किसी भी प्राकृत-विज्ञानसे उत्पन्न करना असंभव है। देवजगत्‌में भी उसकी उपलब्धि किसीको नहीं है। हाँ, उस परम चिन्मय गन्धकी नकल प्रकृतिमें जैसी भी संभव हो सकती है, वह मैं निर्माण करनेकी चेष्टा कर सकता हूँ। परन्तु पोद्दारजी ! इसकी परीक्षा कौन करेगा कि जो भी गंध मैं निर्मित करूँगा, वह श्रीकृष्ण अंग-गन्धके तुल्य है ? उस गन्धकी परीक्षा करनेवालेको श्रीकृष्णांग-गन्धका अनुभव तो होना ही चाहिये। फिर उस परीक्षकको मुझपर ऐसी श्रद्धा भी होनी चाहिये कि मैं स्वयं भगवदंग-गंधका अनुभवी हूँ, तब न वैसी ही गंध निर्माण कर रहा हूँ।"

श्रीपोद्दारजीने कहा – "स्वामीजी ! हमें आपपर तो अवश्यमेव श्रद्धा है, तभी न हमने यह प्रश्न आपसे किया है। हाँ, परीक्षा करनेका अधिकार हम लोगोंमेंसे किसीके भी पास सर्वथा नहीं है। जहाँतक मेरा प्रश्न है, मैं तो नरकोंमें पड़ा विषयी पामर प्राणी हूँ, परन्तु उस चिन्मय गंधकी अनुकृति भी यदि हमें सूँघनेको मिलेगी, तो भी हम सभी अपनेको धन्यभाग्य एवं कृतकृत्य अनुभव करेंगे।"

आप आश्चर्य करेंगे, श्रीभाईजीके पास आज भी श्रीविशुद्धानन्दजी महाराज द्वारा प्रदत्त वह गंध एक इत्रकी शीशीमें रखी है। उन्होंने वह गंध मुझे भी सुँघाई थी। श्रीभाईजी कहते थे कि भगवान् श्रीकृष्णके अंगोंकी गंधकी तो कहीं कोई अनुकृति (नकल) हो ही नहीं सकती, वह तो निरुपम असमोर्ध्व है, परन्तु यह गन्ध उसका किञ्चित् आभासमात्र अवश्य दे पा रही है।

श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके सम्मुख जब भी श्रीकृष्ण प्रकट होने होते, तो पहले उन्हें एवं उनके साथी वैष्णवजनोंको भगवान्‌के अंगोंकी गंध मत्त कर डालती थी। इस गंधसे भावोन्मत्त हुए, वे एवं उनके वैष्णवभक्त प्रभुकी उपस्थिति अनुभवकर उन्हें प्रकट करनेके लिये व्याकुल प्रार्थना और विरह-क्रंदन करने लगते । श्रीचैतन्यदेव अतिशय भावावेशमें अपने भक्तोंसे कहते :–

"हेन श्रीकृष्ण अंग-गंध जे न पाय से सम्बन्ध तार नासा भस्त्रादि समान ।

अर्थात्, जो प्राणी इस श्रीकृष्ण-अंग-गंधसे अपनी नासिकाका सम्बन्ध नहीं जोड़ पाया, उसे नासिकाके होनेका लाभ ही क्या मिल पाया ? उसकी नासिका धौंकनीके द्वार (छिद्र) की तरह व्यर्थ ही वायु खैंचती और छोड़ती है।

भैया ! जिन्हें आज न सही, सुदूर भविष्यमें भी कभी भगवत्प्रेम एवं

भगवद्दर्शनका सौभाग्य मिलना होता है, उन्हें ही श्रीचैतन्यदेव-जैसे किसी भगवद्भक्तके चरणाश्रितोंकी चरण-रज प्राप्त होती है।

कमलका चिह्न

वैसे भगवान्‌के रामावतार, वामनावतार, विष्णु, नारायण आदि स्वरूपोंके चरणोंमें भी चिह्नके रूपमें कमल है, परन्तु भिन्न-भिन्न अवतारोंके चरणोंमें जो कमलका चिह्न है, उनके दल (पंखुड़ियों) और वर्णमें पर्याप्त अंतर रहता है। भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें जो कमलका चिह्न है, उसमें सोलहदल हैं। इस कमलका रंग ललाई लिये हुए गुलाबी है। इस कमलके चिह्नके ऊपर लगे रज-कणोंके स्पर्शमात्रसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कमल ज्ञानका ही प्रतीक है।

ये भगवान्‌के चरणोंमें संलग्न जो रजकण हैं, वे बाह्यरूपसे भी जड़ नहीं हैं। रजकणोंका जो भाग भगवान्‌के चिन्मय चरणतलोंमें चिपका रहता है, वह चिन्मय ज्योतिर्मय ही हो जाता है। इन रजकणोंका ऐसा कल्याणकारी प्रभाव है कि यदि इनका कहीं भूलसे अथवा किसी भी प्रकारसे स्पर्श नेत्रोंसे हो जाय, तो मायाका नेत्रोंमें लगा कीच सदा-सदाके लिये स्वच्छ हो जाता है। उस महाभाग्यवान्‌की नेत्र- ज्योतिमें फिर सर्वत्र, जाग्रत्-स्वप्न, सभी कालोंमें भगवान्‌के परम मंगलमय रूपकी अलौकिक झाँकी ही भरी रहती है। ऐसे भक्तके लिये भगवान् स्वयं अपने मुखसे कहते हैं –

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः ।।

अर्थात्, मैं उस अपने भक्तके पीछे-पीछे इसलिए घूमता हूँ कि उसकी चरण-रज मुझपर पड़ती रहे, और मैं उस चरण-रजसे पवित्र होता रहूँ।

यह तो सर्वविख्यात है कि भगवान्‌ने अपने सखा एवं भक्त सुदामाके चरणोंकी धोवनको स्वयं तो पान किया ही, उसे अपनी सभी पटरानियोंको भी पिलाया था। उन्होंने उस चरण-धोवनको अमृतकी तरह अपने द्वारकाधामके सभी महलोंमें ऊपर-नीचे, सर्वत्र छिड़का था। जिन द्वारकानाथ भगवान्‌के पादोदकके पानसे मनुष्य पूर्वजन्मों एवं इस जन्मके सभी पापोंसे छूट जाता है, जो पादोदक अपुनर्भव गति प्रदान करने वाला है, वे भगवान् द्वारकाधीश स्वयं अपनी चारों भुजाओंसे अपने सखा, भक्त सुदामाका चरणोदक तीर्थजलवत् अपने पर छिड़क रहे हैं, यह भक्तवत्सलताका अप्रतिम उदाहरण ही तो है श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि –

''विना महत्पाद रजोऽभिषेकम्''

अर्थात्, महात्माओंकी चरण-धूलिको मस्तकपर छिड़के बिना कल्याण कदापि नहीं होता।

कमलके साथ तो भगवान्‌का बहुत ही निकटका सम्बन्ध है। भगवान्‌के नाभि, मुख, चरण, कर, नेत्रादि मुख्य अंगोंको कमलकी उपमा दी जाती है। भगवान्‌के नाभि-कमलसे जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीकी उत्पत्ति होती है। भगवान्‌के अंगोंसे पद्म-गंध अनवरत प्रसरित होती रहती है। पद्मजा लक्ष्मी भगवान्‌की पत्नी है।

यह कमलका चिह्न भगवान्‌की एड़ीके ऊपरके भागमें स्थित है। कमलके ऊपर वज्र है। क़मलके पार्श्वमें अंकुशका चिह्न है और सर्वोपरि ध्वजा फहरा रही है।

भगवान्‌के लाल-लाल अतिसुकोमल चरणतलोंपर भिन्न-भिन्न वर्णोंके ये चरण-चिह्न अतीव मनोहर लगते हैं। वैसे कमल लाल वर्णका है, परन्तु भगवान्‌के चरणोंके रंगमें इसका वर्ण मिलकर एकाकार नहीं हो जाय, अतः इसमें पीलापन और नीलिमा झाँई मारती रहती है। भगवान्‌के चरणोंमें यह हरिताभ दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार, छत्र पीले वर्णका, वज्र श्वेत-शुभ्र कर्पूर गौरवर्णका एवं अंकुश श्याम वर्णका – इस प्रकार सभी चरण चिह्न अलौकिक शोभाका प्रकाश करते हैं। ये सभी, जब किसी महाभाग्यवान् भक्तके नेत्रोंके सम्मुख प्रकट होते हैं, तो इन सभीकी आभा एक साथ मिलकर अलौकिक वर्णकी हो उठती है। इनकी पृथक्-पृथक् आभा भी एक दूसरेपर पड़कर अतीव अद्भुत सौन्दर्य सृजन करती है।

भगवान्‌के चरण-चिह्न सभीको सब समय नहीं दीखते। जब भी इनकी कृपा होती है, तभी इनके दर्शन होते हैं; किन्तु जब भी ये दृष्टिपथमें आते हैं, तब इनकी शोभा ऐसी निर्मल प्रकाशयुक्त एवं असीम सुन्दर होती है कि उसका वर्णन किया जाना सर्वथा असंभव है।

भगवान्‌के चरणोंमें इन चरण-चिह्नोंके बीचों-बीच ठीक मध्यमें व्याधने बाण मारा था। इसका अर्थ यही है कि भगवान्‌के साथ ही इस धरासे, ज्ञान (कमल), आसुरी शक्तियोंका दमन (अंकुश), धर्म एवं संतोंका अनुशासन (छत्र) एवं सत्शक्तियोंकी विजय पताका (ध्वजा) – ये सभी व्याधद्वारा विनष्ट कर दिये गये ।

भगवान्‌के चरणोंमें जो षोड़शदल-कमलका चिह्न है, वह भगवान्‌के पुत्र विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीका निवास स्थान है। श्रीब्रह्माजी ही सम्पूर्ण लोकालोक और देवगणोंके पिता-माता दोनों ही हैं। अतः इस कमलके चिह्नमेंसे सभी देवगणोंके दर्शन होते रहते हैं। यह कमलका चिह्न ऐसा निर्मल दर्पणवत् है, जिसपर समग्र विश्व-सृजनका प्रतिबिम्ब अंकित है। सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान् अच्युतके

चरणोंमें ही तो है। जैसे कमल पंक (कीचड़) में उत्पन्न होता हुआ भी उसके संस्पर्शसे सर्वथा विवर्जित, निर्मल, असंग, ऊपर उठा हुआ रहता है, वैसे ही भगवान्‌के चरणोंमें इस त्रिगुणमयी मल-विक्षेपादि दोषोंसे युक्त सृष्टिके होनेपर भी भगवान् सर्वथा इससे असंग, निर्लेप, पृथक् हैं, यही कमलका भाव है।

वज्रका चिह्न

बंगालमें 'दाव' नामक एक औजार होता है। वज्रकी आकृति लगभग दावके समान ही होती है। यह दावसे अधिक तीक्ष्ण और तेजयुक्त चमत्कारी होता है। शेषनागके फनसे भी इसकी आकृति मिलती है। वज्रका रंग श्वेत है। वैसे श्वेतवर्ण तो अवर्ण हो जाता हे। उसमें कोई-न-कोई अन्य वर्णका लेशभर भी मिश्रण अवश्य होता है। शिवजी महाराजको शास्त्रोंमें श्वेतवर्णका कहा है, परन्तु वे कर्पूर-गौरवर्णके माने जाते हैं। कर्पूर-गौर वर्णमें श्वेतताके साथ थोड़ी ललाई रहती है। यह लालिमाका मिश्रण ही कर्पूर-गौर वर्णको नेत्रोंके सम्मुख अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह वज्र कर्पूर-गौरवर्णका ही होता है।

भगवान् विष्णुकी आराधना करते समय इन्द्रने भगवान्‌के चरणोंका अनवरत पूजन किया। उस समय उसे भगवान्‌के चरणोंमें अंकित वज्रके दर्शन भी होते रहे। भगवान् विष्णुके आदेशसे ही वृत्रासुरको मारनेके लिये इन्द्रने भगवान्‌के चरणोंमें जो वज्रचिह्न है, उसे देखते हुए, उसी आकृतिका एक पार्थिव वज्रास्त्र विश्वकर्माके द्वारा दधीचिकी हड्डियोंसे बनवाया था। उसीसे उसने वृत्रासुरका वध किया था। इस वज्र-निर्माणके पूर्व वज्र नहीं था, सो बात नहीं थी। हाँ, इसके पहले वह प्राकृत संसारमें गुप्त था; प्रकाशमें नहीं आया था।

वृत्रासुर भगवान्‌का अनन्य भक्त था। वह अपने इष्टदेवके चरणोंका ध्यान करते समय नित्य अपने ध्यानमें प्रकट इस वज्र-चिह्नको प्रणाम करता था। जब इन्द्रने उसे मारनेके लिये उसी वज्रका प्रयोग किया, तो अपने इष्टके चरण-चिह्नको अपनी मृत्युका हेतु बनकर अपनी ओर आता देख, वह वृत्र कृतकृत्य एवं धन्य हो गया। उसकी भक्ति देखकर इन्द्रदेवका वह वज्रास्त्र कुण्ठित हो गया। इस वज्रस्त्रके साथ भगवान् विष्णुदेवका सिद्ध मारण-मंत्र भी प्रयुक्त किया गया था। वृत्रके भक्तिभावके सामने इस मारण-मंत्रकी शक्ति भी पूर्णतया निरस्त थी। अब तो इन्द्रकी वृत्रको मारने की सामर्थ्य सर्वथा समाप्त हो गयी थी। परन्तु तत्पश्चात् वत्रासुरने भगवदिच्छा जानकर स्वयं मृत्युको वरण कर ली।

सत्य तथ्य तो यही है कि कमलके गुलाबी चिह्नके रूपमें स्वयं ब्रह्माजी एवं वज्रके रूपमें अपनी समग्र शक्तियों सहित भगवान् शिवजी, भगवान्‌के चरणोंमें साक्षात् नित्य स्थित रहते हैं। इसीसे जहाँ ब्रह्माजी भगवान्‌की शरण

रहकर विश्वसृष्टिका समस्त वैभव सृजन कर पाते हैं, वहीं शिवजी महाराज भी भगवान्‌की चरण-शरणके प्रभावसे ही विश्वको संहार करनेकी शक्ति पाते हैं और उस संहार द्वारा उसे पुनः अपने प्रभुके चरणोंमें ही लीन करते रहते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें अङ्कित यह वज्र जगत्‌के समग्र पापोंको उनकी वासनासहित समूल नाशमें हेतु होता है और पापोंके समूल नाशसे ही जीवको नित्य भगवच्चरणाश्रयकी प्राप्ति होती है।

अंकुशका चिह्न

जैसे भगवान् शंकर कर्पूर-गौरवर्ण हैं, उसी प्रकार भगवान् सूर्यदेव नीलिमा-प्रधान शुभ्रवर्णके हैं। भगवान् सूर्यदेव विष्णुके अंश हैं। द्वादश आदित्योंमें भगवान् विष्णुकी भी गणना होती है। अंकुशके रूपमें पालन-शक्तिसम्पन्न भगवान् विष्णु (नारायण) ही श्यामवर्ण धारण किये भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें स्थित हैं। वे विश्वको पालन करनेकी शक्ति भगवच्चरणारविन्दोंसे ही लाभ करते हैं।

अंकुशमें मदोन्मत्त हाथीको भी वशमें करनेकी शक्ति होती है। नित्य नियमित रूपसे इस अंकुशरूप चरण-चिह्नको प्रणाम करनेसे हमारा दुर्दान्त हाथीके समान उद्दंड एवं चंचल मन वशमें हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण महायोगेश्वर हैं, उनका परमोन्नत वैभव है, उनके चौदह अंगुल लघु, परम सुकोमल चरणोंमें स्थित इन चरणचिह्नोंके रूपमें ही सम्पूर्ण विश्व सृजित, संपालित, और संहारित हो रहा है।

ध्वजाका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नके रूपमें जो ध्वजा है, उसका वर्ण पीत है। यह विशुद्ध सत्त्वरूपा भक्तिकी प्रतीक है। ध्वजा विजयकी सूचक है। जो भी भगवच्चरणाश्रयी भक्त ध्वजाका ध्यान करते हैं, उनके भीतर संसारकी आसक्ति और अज्ञान नहीं रहता। उन्हें निश्चय ही प्रगाढ़ रागात्मिका, विशुद्ध सत्त्वमयी भक्ति प्राप्त होती है। यह रागात्मिका प्रेमाभक्ति सर्वविजयिनी है।

भगवान्‌के चरणोंमें अनेक महासिद्ध भक्त बत्तीस चिह्नोंकी बात कहते हैं, कुछ यह संख्या चौसठ और कुछ एक सौ आठ चिह्नोंका संधान करते हैं। परन्तु सभी एकमतसे निम्न चार चिह्नोंको प्रामुख्य देते हैं। ये कमल, अंकुश, वज्र एवं ध्वजा, सभी वैष्णव विग्रहों – राम, कृष्ण, नारायण, आदिके चरणोंमें स्पष्ट परिलक्षित हैं और सभी सम्प्रदायों द्वारा इन्हें पूर्णतया मान्यता प्राप्त है।

भगवान्‌के चरणोंके अन्य शेष चिह्न

भगवान्‌के चरणोंमें इन चार चिह्नोंके अतिरिक्त जो शेष चिह्न परिलक्षित

होते हैं, उनमें कुछ तो आयुध हैं; इनके अतिरिक्त पशुओंके चिह्न हैं। आयुधोंमें धनुष, बाण, तलवार, बरछी, शक्ति, शूल, तोमर एवं गदा आदि हैं। सुदर्शन चक्र भगवान् विष्णुके चरणोंमें चिह्नरूपमें प्रमुख है। पशुओंके चिह्नोंमें – अश्व, हाथी, हरिण, कामधेनु (गाय) आदि प्रमुख हैं। नक्षत्रोंमें – सूर्य एवं चन्द्र हैं। ऋषियोंमें – नारदजी हैं; पुष्पोंमें – दिव्य पुष्प हैं; जलचरोंमें – मीनको लिया गया है। नागोंमें – शेषनाग, पक्षियोंमें – गरुड़जी, वाहनोंमें – रथ, फलोंमें – कदम्बका फल, स्वर्गस्थ जीवोंमें – उर्वशी, कामधेनु, कल्पवृक्ष एवं पर्वतोंमें – सुमेरु पर्वतको लिया गया है। पृथ्वीके वृक्षोंमें – अश्वत्थ; राजचिह्नोंमें – सिंहासन एवं छत्र-चँवर, वस्त्रोंमें – पीताम्बर, आभूषणोंमें बाजूबन्द, वाद्योंमें – वीणा, मुरली, पात्रोंमें – स्वर्णकुम्भ एवं देवताओंमें ब्रह्माजी प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त शुभचिह्नों में – स्वस्तिक, अग्निकुण्ड, ऊर्ध्वरेखा, त्रिकोण, अष्टकोण, एवं नवकोण हैं। असुरोंमें – राजा बलि, एवं शुभवाद्योंमें – घण्टिका एवं शंख सम्मिलित हैं। यज्ञान्नमें तिल एवं जौ हैं। तिल 'स्वधा' पितृलोकके प्राणियोंका प्रतीक है एवं जौ 'स्वाहा' अर्थात् देवलोकके प्राणियोंका प्रतिनिधि है। निवास स्थानके रूपमें महलका चिह्न है एवं स्वच्छताका प्रतीक – दर्पण है।

भगवान् श्रीकृष्णके दाहिने चरणमें उनकी प्रीतिशक्ति राधाजी, भगवान् श्रीरामके चरणोंमें सीताजी एवं भगवान् विष्णुके चरणोंमें लक्ष्मीजी निवास करती हैं। श्रीराधाजीके चरणोंमें चक्र, चँवर, लता, आदिके चिह्न रहते हैं।

कोई यह शंका करे, कि चौदह अंगुलके छोटे–छोटे चरणोंमें इतनी वस्तुएँ कैसे रहती हैं, तो यह तो प्राकृत जगत्के एक छोटे-से चित्रमें भी हम देख सकते हैं। चित्र अथवा फोटो छोटी होती है, परन्तु उसमें समुद्र, मकान, सूर्य, चन्द्र, पहाड़, झरने, नदियाँ, देव-दानव – सभी चित्रित किये जाते हैं। फिर प्राकृत चित्रोंमें तो उनका स्वरूप जड़ होनेसे इन सब पदार्थोंका मात्र आकार ही रेखाओंके रूपमें उभरता है, भगवान्के चरण चिन्मय होनेसे उनमें असुरराज बलि, सुमेरु पर्वत, आदि सभी वस्तुएँ साक्षात् नित्य निवास करती हैं। इनकी इन चरणोंमें मात्र जड़ आकृतियाँ ही नहीं हैं, सभी वस्तुएँ जीवन्त, मूर्त्त, इन चरणोंमें नित्य रहती हैं। ये सभी अपने सब रूप, बल और सत्ताके साथ प्रकट हो सकती हैं और पुनः इनमें चिह्नरूपसे स्थित भी हो सकती हैं। जिन भगवान्की मायाशक्ति अघटन-घटना-पटीयसी है, उनके लिए इसमें कौनसी असंभव अनहोनी बात है ?

भगवान्की अनन्त शक्तिकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। भगवान् चाहें तो अवकाशमें अनवकाश कर सकते हैं, तथा अनवकाशमें अवकाश। वे

सूर्यको एक हिमकण बना सकते हैं और हिमकणको सूर्य। इस अनन्त विस्तृत सृष्टिको वे एक सूईके छिद्रमें प्रवेश करा दें और उन्हें इसमें न तो सूईका छिद्र बड़ा करना पड़े और न सृष्टिको लघु ।.ऐसी अनेक चमत्कारिक सिद्धियाँ तो योगियोंमें भी मिल जाती हैं; परन्तु उनमें वे आंशिक ही होती हैं और भगवान् तो स्वयं सिद्धोंके महासिद्ध हैं।

सारांश यही है कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टि प्रतीक चिह्नोंके रूपमें भगवान्‌के चरणोंमें जीवन्त निवास करती है। जिस प्रकार अर्जुनके रथमें उसकी ध्वजापर चिह्नके रूपमें हनुमानजी थे, परन्तु थे वे – स्वयं साक्षात्, इसी प्रकार, यह समग्र भौतिक जगत् वैसे हमें आदि-अन्तहीन पंचभूतात्मक दीख रहा है, परन्तु यह परमात्म-स्वरूप चिन्मयरूपमें भगवान्‌के चरणोंमें नित्य स्थित है। यह नितान्त सिद्धान्त है, कि विश्वमें कहीं, कुछ भी, कैसा भी है, सब भगवान्‌के चरणोंमें ही है। भगवान्‌के चरणोंसे परे कुछ भी, कभी भी होना संभव नहीं है।

यद्यपि यह बात सर्वसाधारणकी समझके परे है, परन्तु भगवत्तत्त्वको जानने समझनेवालोंके लिये यह स्पष्ट तथ्य है।

यह विश्वसृष्टि चेतनमें है, चेतनसे है, अतः चेतन ही है। यह तर्क तो दिया जा सकता है, परन्तु लौकिक नेत्रोंसे तो सभीको जगत्‌के रूपमें अनन्त, विस्तृत जड़ता ही जड़ताका प्रसार दृष्टिगोचर हो रहा है। यह तो भगवद्भक्तकी ही भक्तिभावमयी दृष्टि है कि उसे भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण जगत् भगवद्रूप दिखाई पड़ता है। इसका उदाहरण भक्तराज प्रह्लादके रूपमें हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष है। भक्तराज प्रह्लादके पिता हिरण्यकशिपुके लिये कहीं भी भगवत्सत्ता थी ही नहीं, उसे मैं, तू, खड्ग, खंभ, नदी, पहाड़, तलवार, ढाल अनेक सत्य दीख रहे थे, वहाँ प्रह्लादको स्पष्ट, प्रत्यक्ष, सर्वत्र भगवत्सत्ता ही सत्य दृष्टिगोचर हो रही थी। और यह प्रह्लादकी दृष्टिका ही अमोघ सत्य था, जिसके फलस्वरूप भगवान्‌को नृसिंह-रूप धारण करके खंभेमेंसे प्रकट होना पड़ा।

भक्तके नेत्र मात्र व्यवहारमें ही लौकिक होते हैं, वैसे वे भगवान्‌में इतने पगे होते हैं कि दिव्य भावापन्न होनेसे, वे चिन्मय ही हो उठते हैं। भक्तकी नेत्र-पुतरियाँ ही साक्षात् भगवान्‌का निवास हो जाती हैं।

भक्तराज हनुमान्‌जीने अपना हृदय फाड़कर सभीको उसमें साक्षात् भगवान् सीतारामको विराजित दिखाया है। भक्तोंके नेत्रोंकी परम रसमयी चिन्मयताकी शोभा ही निराली होती है। उपनिषद् कहते हैं – ***'तद् विष्णोः परमं पदम्'*** अर्थात्, सम्पूर्ण विभूतियोंसहित यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि भगवान्‌के चरणोंमें ही है। इस श्रुतिके अनुसार विश्वकी विभूतियोंके सम्पूर्ण नमूने भगवान्‌के

चरणोंमें चिह्नरूपमें प्राप्त होते हैं।

ऋषि, मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, नक्षत्र, आयुध, आभूषण, वृक्ष, पर्वत, वस्त्र, राजचिह्न, वाद्य, पात्र, फल-फूलादि सभी वर्गोंमेंसे एक-एक वस्तु चुनकर भगवान्‌ने अपने चरणोंमें चिह्नके रूपमें स्थापित कर रखी है।

वैसे भक्तोंकी इस विषयमें विलक्षण भावनाएँ हैं। भक्त सोचते हैं कि भगवान्‌के चरणोंमें सम्पूर्ण सृष्टि है और भगवान्‌के चरण तो मेरे परम स्नेहास्पद हैं, अतः उसके लिये यह सृष्टि मायिक, मिथ्या, मृगमरीचिकावत् नाशवान् एवं दुःखालय नहीं होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाती है। यद्यपि सृष्टि अपने स्वरूपको बदलती नहीं है, वह भक्तके लिये भी दुःखालय ही रहती है, परन्तु भक्त सृष्टिके सुख-दुःखको अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे लेता ही नहीं है, वह तो सभी सांसारिक संपत्ति-विपत्तिमें भगवान्‌के परमानन्दकन्द मुखारविन्दकी सर्वसुखनिधान छबि देख-देख कर मस्त रहता है। भक्तको सर्वत्र अपने इष्टके सर्वसम्पद्-निकेतन् चरणारविन्द ही विलसित नजर आते हैं। भक्तके आत्मनिवेदनको देखकर भगवान् कृतज्ञतासे भर उठते हैं। वे निर्णय ही नहीं कर पाते कि मैं अपने इस भक्तको, जिसने मेरे चरणोंको अति भक्तिभावसे अपने हृदयके भीतर अखण्डरूपसे स्थापित कर लिया है, क्या दूँ ? भगवान् तो मात्र विचार ही करते हैं और भगवान्‌का मन अपने भक्तोंके प्रति कृतज्ञतासे मात्र आप्यायितभर होता है, परन्तु परमोदार भगवान्‌के चरण तो, भक्तका हृदय स्पर्श करते ही भक्तिभावजन्य परमोच्च, अनमोल सम्पूर्ण निधियाँ उस भक्तको तत्क्षण ही दे डालते हैं। इस प्रकार भक्तके पास भगवान्‌का सारा प्रेमैश्वर्य और भक्तिभाव-जन्य विभूतियाँ स्वतः बिना किसी प्रयासके आ जाती हैं। विश्वमें जितना भी ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सद्गुण हैं, सौशील्य है, सौभाग्य है – सबके स्रोत, उद्गमस्थान तो भगवान्‌के परमनिधि चरण ही तो हैं। जैसे उदाहरणस्वरूप, प्रेमाभक्तिके आचार्य भक्तशिरोमणि नारदजी हैं। जब नारदजी स्वयं भगवान्‌के चरणोंके माध्यमसे भक्तके हृदयमें आ जाते हैं, तो वह भक्त प्रेमाभक्तिसे वंचित कैसे रह सकता है ?

इसी प्रकार स्वस्तिकका चिह्न है। वह सर्वतोदिशि मंगलका प्रतीक है। जब भक्तके हृदयमें भगवच्चरणारविन्दमें स्थित स्वस्तिक मूर्तिमान् धृत होता है, तो वह भक्त निश्चय ही सम्पूर्ण त्रिलोकीके लिये परम मंगलकारी बन जाता है। जिन पदार्थोंके चिह्न भगवान्‌के चिन्मय चरणोंमें स्थान पाये हैं, वे सभी अप्राकृत भगवद्धामकी ही वस्तुएँ हैं। उन्हें कभी प्राकृत जगत्‌की लौकिक वस्तुएँ नहीं समझनी चाहिये। अतः भक्तके हृदयमें ज्योंही भगवच्चरणारविन्द विराजित होते हैं, अप्राकृतधाम एवं उसकी सभी मुख्य निधियाँ भी भक्तके हृदयको अपना घर

बना लेती है। अप्राकृत निधियाँ सम्पूर्ण लोकशक्तियोंकी भी आधार हैं, अतः भक्त लोक-परलोकको प्राकृत-अप्राकृत सभी सिद्धियोंका स्वामी स्वभावतः ही हो जाता है।

योगी एवं भक्तकी तो कोई तुलना ही संभव नहीं है। योगी अपनी योग साधनासे मात्र प्राकृत-शक्तियोंका आंशिक स्वामित्व पाता है। अप्राकृत भगवल्लोकतक तो उसकी गति ही नहीं है। इस प्राकृत-शक्तियोंके आंशिक स्वामित्वसे ही योगी अभिमानी हो उठता है। भगवान्‌के भक्तके अभिमानी होनेकी तो कभी कल्पना ही नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो भगवान् एवं उनके परम चिन्मय, शंतम चरणोंको अपने हृदयमें पाकर उनके परम प्रेममें वशीकृत हुआ अपने आपको ही भूल जाता है।

इसके ज्वलन्त उदाहरण भक्तराज हनुमान्‌जी हैं। भक्तराज हनुमान्‌जी सर्वसिद्धियोंके स्वामी हैं। यद्यपि उन्हें अपनी समग्र महत्ताकी पूर्ण विस्मृति रहती है, क्योंकि जब भक्त भगवान्‌की स्मृतिमें तल्लीन रहता है, तो उसे अपने व्यक्तित्व और उसकी महत्वपूर्ण शक्तियोंका विस्मरण सहज स्वाभाविक ही हो जाता है; श्रीजाम्बवान्‌जी जब उन्हें इन अपनी महत्वपूर्ण शक्तियोंकी स्मृति कराते हैं, तब भी वे भगवान्‌की सेवार्थ ही उन शक्तियोंका प्रयोग करते हैं। भगवान्‌की मुद्रिकाको अपने मुखमें मेलकर ही वे अपनेको शक्तिमान् समझ पाते हैं। उन्हें यह अखण्ड रूपसे ज्ञान एवं स्मरण रहता है कि मैं जो कुछ भी हूँ, वह सब भगवान् की सेवकाईका फल है, मैं तो अपने स्वामी श्रीरामजीके बलसे ही बली हूँ। मेरा अपना स्वयंका कुछ भी नहीं है। श्रीहनुमान्‌जी भगवान्‌की सेवकाई और उनके कार्यके लिये प्राप्त भगवान्‌के बलसे बली हुए अपने सम्मुख रावणको एक तुच्छ मच्छरके समान भी नहीं समझते। मेघनादके द्वारा ब्रह्मपाशसे बाँधे जानेपर एवं रावणके सम्मुख उसकी भरी सभामें समुपस्थित किये जानेपर भी वे पूर्णतया निर्भय हैं। वे पूर्णतया विश्वस्त हैं कि भगवान्‌की असंभवको संभव करनेवाली सामर्थ्य उनकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ है। यह मृत्युमुखमें पड़ा रावण उनका एक रोम भी क्षत नहीं कर सकता। भक्त होनेके नाते भक्तराज हनुमान्‌जीके हृदयमें भगवान्‌के चरण तो अखण्ड विराजित रहते ही हैं और भगवान्‌के चरणोंमें जो भी दिव्य अप्राकृत निधियाँ हैं, वे सब उनके हृदयको चरणोंके संग निहित रहनेसे अपनी अनन्त तेजस्विता आदि शक्तियोंसे समलंकृत किये रहती हैं।

सूर्य एवं चन्द्रका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें सूर्य एवं चन्द्रके चिह्न विद्यमान हैं। सन्तजनोंने इनके

असंख्य भाव ग्रहण किये हैं। मुख्य कुछ भाव यहाँ उल्लेख किये जा रहे हैं।

भगवान्‌के चरणोंमें सूर्यदेव हैं, वे भक्तके, चरणोंमें प्रविष्ट होते ही भगवद्भक्तका सम्पूर्ण तमोगुण नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌के भक्तोंको जब भगवान्‌का अदर्शन रहता है, वे अतिशय विरहमें व्याकुल होते हैं, तो वे इन प्राकृत सूर्य-चन्द्रको देखकर भगवान्‌के चरणोंकी स्मृति कर लेते हैं। उन्हें यह समझकर कि ये भगवान्‌के चरणोंमें अंकित हैं, बहुत ही सान्त्वना मिलती है।

भगवान्‌के भक्तोंमें अग्रगण्य शिवजी महाराज तो चन्द्रमाको भगवान्‌के चरणोंमें अंकित मानकर उसे सदा अपने मस्तकपर ही धारण किये रखते हैं। भगवान्‌के चरणोदकको तो वे गंगाके रूपमें अपने जटाजूटमें एवं भगवान्‌के चरण-चिन्ह चन्द्रमाको वे शिरोभूषण बनाकर सदैव अपने मस्तकपर धारण किये रहते हैं।

यह बात पूर्व-प्रसंगमें कही जा चुकी है कि भगवान्‌के चरण ही परमपद हैं। जैसे साकेत-धाम भगवान् रामके चरणोंमें है, गोलोकधाम भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें है। भगवान्‌के चरण अप्राकृत चिन्मय हैं। इनमें प्राकृत सूर्य-चन्द्रका तो प्रवेश ही संभव नहीं है। अतः इन प्रकृति-पिण्डों सूर्य-चन्द्रकी वहाँ गति ही नहीं है। श्रुति कहती है – ***'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'*** अर्थात्, वहाँ न तो सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा एवं न ही अग्नि। तो फिर इन भगवल्लोक साकेत-गोलोकादिमें कौनसे सूर्य-चन्द्र प्रकाशित होते हैं ? ये भगवल्लोक, हैं तो लीलाजगत् ही। अतः वहाँ सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश सभीकी स्थितिका उल्लेख शास्त्रोंमें मिलता है। वहाँ दिन-रात होते ही हैं। वहाँ नन्द-यशोदाजी, दशरथ-कौशल्याजी जब रहते हैं, भगवान्‌की असंख्य प्यारी गायें, सखागण निवास करते हैं; जहाँ श्रीराधाजी, कीर्त्तिदा मैया, उनके महल-मकान, सभी सखियाँ और गोपगणोंके असंख्य परिवार हैं, यमुना, राधाकुण्ड, कृष्णकुण्ड, गिरिराज पर्वत आदि सभी जगत् है, तो वहाँ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, वायु तो होंगे ही। निश्चय ही ये वहाँके सूर्य-चन्द्र प्राकृत, विनाशी, सूर्य-चन्द्र नहीं होकर, भगवान्‌के चरणाश्रित अप्राकृत चिन्मय सूर्य, चन्द्र ही हैं। ये अनन्तानन्त विश्वब्रह्माण्डोंमें प्रकाश करनेवाले सूर्योंके मूल बीज हैं।

शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन आता है कि जिनकी परम गति होती है, वे सूर्यमण्डल को भेदकर अति ऊर्ध्व लोकोमें प्रस्थान करते हैं। भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्त तो भगवान्‌की चरणकृपासे स्वतः सूर्यमण्डल-भेदी हो जाते हैं। उन्हें इस लौकिक सूर्य-मण्डलसे कुछ लेना-देना ही नहीं रहता। विश्व-ब्रह्माण्डमें जो-जो लौकिक-अलौकिक गतियाँ हैं, वे सभी गतियाँ भगवद्भक्तको भगवच्चरणारविन्दोंकी

कृपा-कणके प्रसाद-स्वरूप स्वतः ही प्राप्त रहती हैं।

भगवच्चरणतलगत चन्द्रमा भक्त हृदयमें प्रवेश होते ही सम्पूर्ण तमोगुणको नष्ट कर देता है। वह भक्तके हृदयमें ऐसी विशुद्ध सत्त्वरूप सुशीतल अमृत-वर्षा करता है कि उस विशुद्ध सत्त्वरूपा बाढ़में उसके पूर्वकृत पापों-तापोंका पता ही नहीं चलता। ये सभी विशुद्ध सत्त्वमें डूबकर उससे एकाकार हुए परम अमृत ही बन जाते हैं। यह चन्द्रमा प्राकृत पिण्ड तो है नहीं, यह तो भगवद्धामका भगवद्रूप चन्द्र है, जो भक्तके हृदयकी सभी काम-क्रोध, लोभ, मोहादि पाप-मूलक वासनाओंको भगवत्प्रेमके निर्मलतम सरस भावोंमें रूपान्तरित कर देता है।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णने व्रजलीलामें पूतनाका विषभरा स्तन्यपानकरके उसे अपने नित्यलोकोंमें मातृगति देकर भेज दी, जैसे अघासुरकी मृतदेहको अपने सख्यरसकी क्रीड़ास्थली बना ली, इसी प्रकार भगवच्चरणतल-निवासी चिन्मय चन्द्रमा भी भगवद्भक्तोंके समग्र कालुष्यको महाभावजन्य उच्चाति-उच्च भाव-लहरियोंमें रूपान्तरितकर भक्तोंको भगवान्‌की प्रीतिमें सराबोर करता रहता है।

वंशीका भाव

भगवच्चरण-स्थित, जो भगवान्‌की वंशी है, उसका निनाद इतना मनोमुग्धकारी है कि जिस भाग्यवान् जीवके कानोंमें यह कर्ण-रसायन वंशीध्वनि जाती है, उसके लोक-धर्म, वेद-धर्म एवं कुल-धर्म, यहाँ तक कि देह-धर्म भी स्वतः छूट जाते हैं। उसे इन्हें छोड़नेका कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यह महान् त्याग उससे स्वतः ही सम्पन्न हो जाता है।

वंशी, मात्र देखनेमें ही जड़ बाँसकी बनी है, वास्तवमें वह कोई महासिद्ध संत है, जिसने अपनी परमोच्च भक्तिके द्वारा यह महासुदुर्लभ पद प्राप्त किया है ? किसी परमोच्च भाव-भक्तिसम्पन्न महापुरुषने जड़वत् होकर भगवान्‌के हाथों उनका पूर्ण यंत्र बनना स्वीकार किया है, एवं इसी सर्वसमर्पणमयी शुभवासनाके फलस्वरूप वह भगवान्‌के अधरोंमें संलग्न रहनेका महान् सौभाग्य प्राप्तकर जड़ वंशी बन गया है। उसने अपनी स्वतःकी कोई इच्छा, रुचि रखी ही नहीं। भगवान् उसे जैसे बजायें, भगवान्‌की रुचिके स्वरोंको ही अपने छिद्रों से निकालना उसने अपना परमधर्म माना है। वे यदि इस वंशीको अपनी कटिमें खौंसी रखते हैं, तो यह वंशी उनकी टेंटमें ही पड़ी रहती है। भगवान् यदि इसे करकमलोंमें धृत किये रहें, तो यह उनके हाथोंमें रहती है। इसकी अपनी कोई, रुचि, मनोरथ या इच्छा नहीं है।

ब्रजमण्डलके महासिद्धसंत श्रीहित हरिवंश महाप्रभु यावज्जीवन वंशी-भावमें ही रहे। वेदान्ती लोग ऐसे निर्मल भावोंकी हँसी उड़ाते हैं। वे आक्षेप करते हैं कि भक्तलोग चेतनसे जड़ बनना चाहते हैं। वे भगवद्भावका वास्तविक तत्त्व-रहस्य जानते ही नहीं। उन्हें भगवान्‌के चिन्मय आयुधों, आभूषणों, वस्त्रादि सभी उपकरणोंकी परमोच्च रसमय स्थितिकी परिकल्पना ही नहीं है। वे तो भगवान्‌के परम विशुद्ध चिन्मय विग्रहको भी मायोपाधिक समझते हैं। जब वे स्वयं भगवान्‌के मायातीत, अप्राकृत, चिन्मय विग्रहके तत्त्व-रहस्यसे ही अपरिचित हैं, तो भगवान्‌के चिन्मय अङ्गोंमें धृत, उनसे संलग्न इन आयुध एवं आभूषणोंके प्रति अज्ञान भावना रखें, इसमें अनहोनी ही क्या है ? परन्तु सत्य दृष्टि यही है कि भगवान्‌के चिन्मय अंगोंसे संलग्न सभी वस्तुएँ भगवत्स्वरूप उनके पार्षद ही हैं। वे बाहरसे ही सभी जड़वत् दीखते हैं, परन्तु हैं सभी, पूर्ण चिन्मय भगवत्स्वरूप। भगवान्‌के चिन्मय अंगोंसे संलग्न एक धूलिकणकी भी महिमा ऐसी असमोर्घ्व एवं महान् है कि उससे संस्पर्शित होने-मात्रसे पत्थरके रूपमें परिणत गौतम नारी अहिल्या परम पवित्र होकर नारीत्व प्राप्त कर लेती है।

साक्षात् विश्वस्रष्टा ब्रह्माजी, इन्द्रादि देवगण, स्वयं भगवान् शंकरजी भगवान्‌की चरण-रजके लिये लालायित रहते हैं। उद्धव-जैसे महापुरुष और स्वयं ब्रह्माजी, कीट-पतंग, लता-द्रुम बनकर भी अपने मस्तकपर इस धूलिका अभिषेक करानेको लालायित रहते हैं। इन भगवान्‌के चरणोंमें जो नूपुर-किंकिणी आदि आभूषण हैं, उनमें जड़ताकी कल्पना करना ही मात्र घोर अज्ञता ही है।

भगवान्‌के प्रेमीभक्त तो भगवत्सेवार्थ ऐसे नये-नये विलक्षण भाव-सम्बन्ध नित्य ही स्थापित करनेको समुत्सुक रहते हैं। वे तो अपुनर्भव मुक्तिपदको, अविनाशी ब्रह्मैक्यको, भगवान् श्रीकृष्णके हाथको सुशोभित करनेवाले जड़ लकुट-भावकी प्राप्तिके सम्मुख अति तुच्छ, हेय समझते हैं। भक्तोंकी चाह आश्चर्यजनक है। उनकी आकांक्षाएँ विलक्षण हैं। कोई चाह करते हैं, हम वह परम स्वच्छ निर्मल दर्पण बन जावें, जिसमें हमारे प्यारे श्यामसुन्दर और प्राणप्यारी किशोरी रानी अपने जगन्मोहक रूपको निहारा करते हैं। कोई भक्त प्राणप्रियाके झूलनोत्सवमें प्रयुक्त होनेवाला झूला बनना चाहते हैं, अनेक भक्त भगवान्‌के शयनमें प्रयोग होनेवाली शय्या बनकर जीवनकी सफलता चाहते हैं। कोई-कोई भक्त तो व्रज-मण्डलका सर्वव्यापी आकाश ही बन जाना चाहते हैं, जिससे वे अपने प्रियाप्रियतमका सान्निध्य, भलेही उनके प्रिया-प्रियतम जहाँ-कहीं भी रहें, सदैव निश्शंक प्राप्त करते रह सकें। फिर चाहे प्रियतम मथुरा जावें, अथवा द्वारका; वे हस्तिनापुर रहें अथवा कुरुक्षेत्र; उनकी दृष्टिसे ओझल तो वे

होने से रहे। अनेक भावुक भक्त भ्रमर, तृण, शुक-सारिका, कोकिल-मयूर एवं कपोत और कुक्कुट होकर अपने प्राणधन नीलमणिकी सेवाकी चाह करते हैं। भक्तोंके असंख्य मनोरथ हैं।

एकबार किसी गोपीने भगवान्‌की वंशीसे पूछा – "हे वंशी ! तूने ऐसा कौनसा तप किया है, जिसके कारण तू हमारे प्राणनाथ श्यामसुन्दरके अधरोंसे ही सदा संलग्न रहती है ? तेरे अंगोंको वे अपनी सुकोमलतम अँगुलियोंसे सदैव सहलाते हैं, तुझे अपना परम सुस्वादु, अमृतको भी तुच्छ करनेवाला अधरामृत पान कराते हैं। उनके प्राणोंसे तू प्राणान्वित रहती है, उनका अधर-पानही तेरी तृप्तिका हेतु है। तू वे ही बोल बोलती है, जो वे तुझमें स्वर भरकर बोलनेको प्रेरित करते हैं। उनका संकल्प ही तेरा वादन है।"

इसपर मुरलीने उस गोपीको जो उत्तर दिया, वह अतिशय तात्विक, सारगर्भित एवं मार्मिक था। मुरलीने कहा – "बहनों ! मैंने अपने प्रांणवल्लभ, जीवन-सर्वस्व प्रियतमके लिये सर्वप्रथम तो अपना ह्रदय सर्वथा खाली, शून्य कर दिया। उसमें अपना अहंकार, अपने प्राण, संकल्प, धर्म, संस्कार, वासनाएँ, इच्छाएँ कुछ भी नहीं रखीं। मैंने अपने को पूरी पोली करके उनके हाथों सौंपी है। उन्होंने मेरे तनको छेड़ना चाहा, तब भी मैंनें उफ भी नहीं की। कोई निषेध नहीं किया, कुछ भी प्रतिक्रिया उनके विरोधमें मैंने प्रकट नहीं की। मैं पूर्णतया उनको समर्पित थी, आज भी हूँ और सदैव रहूँगी। मेरा अपना निजका कोई मन नहीं, मेरी अपनी कोई निर्णय करनेवाली बुद्धि नहीं, मेरी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता भी नहीं है। मैं तो पूरी उनके प्राणोंसे प्राणान्वित, उनके मनसे मनवाली, उनकी सत्तासे सत्तान्वित, उनके हाथकी एकमात्र यंत्र, खिलौना बनी हूँ। श्रीमद्भागवत में जो कहा गया है कि **"ता मन्मनस्का मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदैहिकाः"** यह भाव मुझपर पूरा-पूरा चरितार्थ होता है। जब मैंने अपने प्रियतमकी रुचिपूर्त्तिके लिये अपना अहं, अपना सर्वस्व ही उन्हें समर्पित कर दिया, तब स्वाभाविक ही फिर वे मेरे भीतर जो स्वर भरते हैं, वही तो स्वर बोलेगा। क्योंकि वह बोल, वह गीत, उनका पूरा-का-पूरा अपना होता है, विशुद्ध ज्यों-का-त्यों मुझ यंत्रसे बहिर्गत होता है, उसमें मेरा अपना संश्लेष भी नहीं होता, इसीलिए वह नाद – पूर्ण ब्रह्मनाद, सर्वाकर्षक आह्वान-नाद हो जाता है।

"मैंनें, बहनों ! कभी उनसे आग्रह नहीं किया कि वे मुझे अपने अधरोंपर रखें । वे अपनी कटिमें कसी फेंटमें मुझे रख लेते हैं, तो मैं विरोध नहीं करती। मैं तो यह भी आग्रह नहीं करती कि वे मुझे बजावें ही। वे जब इच्छा हो, बजावें,

जो राग बजाना चाहें बजावें, नहीं बजाना चाहें, कभी नहीं बजावें। मैं उनके हाथोंकी यंत्र, मात्र उनकी अपनी-से-अपनी बनी रहूँ, बस यही मेरा भाव है।

चेतन होते हुए भी जिन-जिन भक्तोंने अपना हृदय इस प्रकार अहंकार-शून्य बना लिया, वे भक्त ही मुरली भाव-देहको प्राप्तकर भगवान्‌के हाथोंमें थिरकते हैं। उनमें ही भगवान्‌के प्राणोंके स्वर निनादित हो पाते हैं।

मुरलीके सौभाग्यको देखकर, भगवान् श्रीकृष्णकी अतिशय प्रेम-भाजन गोपियोंको भी स्पर्द्धाजन्य ईर्ष्या होती है। परन्तु उनकी यह ईर्ष्या अति प्रेमभरी, विशुद्ध सात्त्विक है।

भैया ! ज्ञान एवं कर्मकी जितनी ऊँची-से-ऊँची स्थितियाँ हैं, मुरलीकी सभीमें परमोच्च स्थिति है। गीतोक्त सांख्य उपासना द्वारा जिसे सिद्धि प्राप्त करनी हो, वह मुरलीको अपना गुरु बनावे। इसी प्रकार जिसे निष्काम कर्मयोगकी शिक्षा लेनी हो, वह भी मुरलीके ही आदर्शको अपनेमें स्थिर करे। शरणागति योगमें तो मुरली पूर्ण धुरीण है ही। मुरलीमें गीतोक्त कामना और फलासक्तिका त्याग ही नहीं है, उसे तो अपने भीतर कोई अहंकार है, अथवा नहीं है, — दोनोंका भी ज्ञान नहीं है, वह तो, बस भगवत्प्रेममें अपनी अस्मिता और अस्तित्वको ही भूले रहती है और भगवान्‌में डूबी रहती है।

इसीलिए इस मुरलीको भगवान्‌की कटि-फेंटका बंधन मिला है, और अपनी निजी-से-निजी वस्तुके रूपमें भगवान्‌ने उसे स्वीकार किया है। वह उनके हाथोंमें विराजती है, अधरोंसे लगती है, उनके प्राणोंसे प्राणान्वित होती है, उनके स्वरोंसे बजती है और उनके चरणोंमें पद-चिह्नके रूपमें नित्य निवास करती है। वह भगवान्‌की अक्षुण्ण-संगिनी है। भगवान्‌ने अपने नाम भी वंशीधर, वंशीविमोहन आदि इसी आत्मीयतासे रखे हैं, जैसे नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, राधिकारमण, गोपीजनवल्लभ आदि उनके नाम हैं।

मुरलीको वे सभी शक्तियाँ स्वभावतः ही भगवान् द्वारा प्रदान कर दी गयी हैं, जो स्वयं भगवान्‌में हैं। जैसे, भगवान्‌में विरुद्धगुण-धर्माश्रयत्व है, तो मुरलीमें भी यह गुण भगवान्‌के समान ही पूर्ण है। भगवान् असंभवको संभव कर सकते हैं, तो मुरली भी वैसा ही कर सकती है। मुरली भगवान्‌के समान जड़को चेतन और चेतनको जड़ कर देती है। वह अचल पदार्थोंको जलकी तरह तरल एवं प्रवहमान कर देती है और तरल, बहते पदार्थोंको जड़ बना देती है। अघटन-घटना-पटीयसीत्व जैसा भगवान्‌में है, वैसा ही मुरलीमें भी भगवान्‌की कृपासे ज्यों-का-त्यों है। परन्तु मुरलीको अपनेमें इस सर्वशक्तिमत्ताके होनेका कहीं कोई बोध नहीं है। जब भगवान् उसमें अपना स्वर फूँककर उससे ऐसा

कार्य कराना चाहते हैं, तो यह कार्य भगवान्‌की शक्तिसे उसके द्वारा सांगोपांग संपादित हो जाता है। मुरली अपने स्वतंत्र अहंकारसे कभी कुछ भी नहीं करती। उसमें अपने स्वतंत्र अहंका लेश भी नहीं है। हाँ, भगवान् उसमें जब ऐसा स्वर भरते हैं कि जड़ चेतन हो जावें और चेतन जड़ बन जावें, तो तत्क्षण ही, मुरली-रव अपने प्रभावसे वैसा कर देता है। मुरली-निनादसे वृक्ष रस, टपकाने लगते हैं, नदियाँ स्थिर हो जाती हैं, पहाड़ सचल हो उठते हैं। गोपियोंके घरकी सभी लकड़ियाँ गीली हो जाती हैं और उनका गीलापन रसोईमें जलती आगको ठंडा कर देता है। व्रजकी लाखों गायें और बछड़े मुरली-निनादको सुनकर स्तब्ध एवं निश्चेष्ट हो जाते हैं। वे अपने मुखका ग्रास भी निगल नहीं पाते।

यह मुरलीका ही चमत्कार था कि छोटे पौगण्ड वयके श्रीकृष्णपर गोपोंने अपनी वनमें लाखों इतस्ततः भटकी गायोंको बुलाकर एकत्रित करनेकी जिम्मेदारी डाल रखी थी। श्रीकृष्ण ज्योंही अपनी मुरलीमें स्वर भरते और गायोंके नाम मुरलीमें उच्चारण करते – 'धौरी, धूमरी, कजरी, श्यामा, पीताम्बरा, चारुनयना, चारुशृंगी, कृष्णा, कावेरी, पीनस्तनी' – सभी गायें और बछड़े चाहे कितनी ही दूर क्यों न चर रहे हों, पहले तो स्तब्ध हुए वंशीमें अपने नाम सुनते, फिर कुछ काल उस मधुरतम मुरली-निनादको सुनते हुए उसीमें तल्लीन हो जाते, तब यंत्रचालितसे उनके चरण अपने-आप अपने प्राण-सार-सर्वस्व, नन्दनन्दनकी ओर, जिधर वे कदम्बवृक्षके नीचे अपनी बाँसुरी बजाते होते, चल पड़ते हैं। इन गायोंकी, बछड़ोंकी, उस समय सुर-मुनि-दुर्लभ दशा हो जाती है। उनके कानोंमें मुरली-रव प्रवेश करते ही सीधा पहले उनके मन और चित्तको आप्यापित करता है एवं तब उन्हें अचल एवं स्थिर कर देता है। वह वंशीरव उनके एकाग्र चित्तमें भगवान् वंशीविमोहनकी सुन्दर मुख-छबिको सब ओर पूरा भर देता है। तब सर्वोच्च भाव-समाधिमें डूबते-लहराते गायें एवं बछड़े यंत्रचालितसे अपने प्राणप्यारेके पास पहुँच जाते हैं। जब इन गोपालकी वंशी बजती है, तो पशुओंकी तो बात ही छोड़ें, सम्पूर्ण पक्षीगण ही नहीं, व्रजके असंख्य कीट-पतंग भी योगियोंकी सर्वोच्च भाव-समाधिको प्राप्त हो उठते हैं। समय-असमय कभी भी, बस, साँवरे गोपालकी इच्छा होनी चाहिये, ज्योंही वंशीमें वह फूँक लगाता है, बस, उस मुरलीके गुंजायमान होते ही, जो जहाँ जिस अवस्थामें होता है, उसी अवस्थामें वह परमोच्च तल्लीनताको प्राप्त कर जाता है। यदि गायें चरती होती हैं, तो उनका चरना तत्क्षण ही छूट जाता है। दूध-पीते बछड़े दूध पीना बन्द कर देते हैं, उनकी सब इन्द्रियाँ इस नादमें प्रवाहित हुई स्वतः ही बिना

किसी साधना एवं चेष्टाके रुक जाती हैं, उनकी श्वास भी ऐसी सुमन्द गतिसे चलती है, जिससे मात्र प्राण-धारण हो सके। उनके नेत्र अर्द्ध-निमीलित, स्थिर, शान्त अपने प्राणवल्लभकी रूप-छविका पान करते रहते हैं और उन सभीकी सम्पूर्ण रजोगुणी हलन-चलन सर्वथा शान्त हो जाती है। उनको इस अलौकिक कर्ण-रसायनकी प्राप्तिसे इतना आनन्द होता है कि उनका रोम-रोम आत्यन्तिक तृप्तिसे भर उठता है।

इससे यह भाव ग्रहण करना चाहिये कि जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरणोंके साथ मुरली भी आ गयी, उसमें भी इस मुरलीके सभी गुण आ जाते हैं। अर्थात्, उसका मन-रूपी पक्षी इधर-उधर उड़ना छोड़कर स्थिर हो जाता है। उसकी इन्द्रिय-रूपी गौएँ अपने-आप उसके वशमें ही रहती हैं। उन्हें उसे नियंत्रित करना नहीं पड़ता। सब अनायास ही हो जाता है, सायास कुछ भी नहीं करना पड़ता ।

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भगवद्भक्तके लिये कहा गया है – ***"धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहाम्",*** अर्थात्, भगवान्‌का भक्त यदि आँख मूँदकर भी दौड़े, तो भी उसके गिरने अथवा लड़खड़ानेका भय नहीं रहता।

यह बात सर्वथा उचित भी है, जिसकी मन-इन्द्रियाँ वशमें हैं, वह आँख मूँदकर दौड़े, तो भी गिरनेका प्रश्न ही नहीं उठता और भगवद्भक्तका अर्थ ही है कि जिसकी इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि सब भगवान्‌में निरुद्ध एकाकार हों। यह उदाहरण तो संसारमें ही देखा जा सकता है। जिस रथीके घोड़े सारथीके वशमें हों, सधे हुए हों, वह सारथी सोये हुए रथीको भी सकुशल अपने गंतव्य स्थान तक पहुँचा देता है। भक्तके तो सारथी स्वयं भगवान् होते हैं और अपनी इन्द्रियों-रूपी घोड़ोंकी बागड़ोर भक्त अपने भगवान्‌को ही सौंपे रखता है; तब उसके गिरनेका प्रश्न ही नहीं है। भगवान् इसीलिए गीतोपनिषद्‌में प्रतिज्ञा करते हुए कह बैठते हैं – ***"न मे भक्तः प्रणश्यति",*** अर्थात्, मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं हो सकता।

एक अति निर्मल भाव और है, वह यह है कि कभी-कभी सखियाँ मुरलीको चुरा लेती हैं। कभी-कभी यह मुरली यशोदाजीके हाथमें भी पड़ जाती है। परन्तु इस मुरलीको न तो सखियाँ ही बजा सकती हैं, न ही यशोदाजी । सखियाँ मुरलीको चुराकर अपनी स्वामिनी राधाजीको दे देती हैं। वे इसे बजाने की चेष्टा भी करती हैं, परन्तु कितनी ही बार फूँक लगानेपर भी मुरलीमेंसे सही निनाद तो तभी निकलता है, जब यह नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंमें सटती

है। अन्य किसीके भी वशकी बात नहीं है कि इसमें से सही स्वर निकाल सके। यह मुरलीकी भगवान्‌के प्रति अनन्यता है। उसपर सर्वाधिकार एकमेव भगवान् श्रीकृष्णका ही है।

कहाँ हमारी दशा है — हम कहलाते तो भगवान्‌के भक्त हैं, परन्तु हमारे ऊपर प्रभुत्व एवं स्वामित्व जमाये हैं — घर-परिवारके लोग। हम तो इतने गये-बीते हैं कि हमपर गृह-मकान, खेत-खलिहान, मान-प्रतिष्ठा, धन-वैभव आदि जड़ वस्तुएँ ही पूरी तरह हावी हैं।

रामभक्त तुलसीदासजी महाराज अपनी विनय-पत्रिकामें भगवान् रामसे यही प्रार्थना करते हैं — "हे दयालु प्रभो ! मेरा यह हृदय आपका मन्दिर है, इसे काम-क्रोधादि डाकुओंने अपने आधिपत्यमें लेकर लूटना प्रारंभ कर दिया है। इस मेरे हृदय-मन्दिरको इन डाकुओंसे खाली कराइये और अपने अधिकारमें पुनः कर लीजिये, नहीं तो आपका ही अपयश होगा कि स्वामी होकर सेवककी रक्षा नहीं कर पाये।

मुरलीपर एकछत्र भगवान्‌का ही अधिकार है। भगवान्‌को जैसे मुरली एकक्षण भी नहीं त्यागती, उस प्रकार भगवान् भी मुरलीको अपनेसे एक क्षण भी विलग नहीं करते। निद्राकालमें भी मुरली भगवान्‌के सिरहाने ही रहती है। ज्यों ही भगवान् प्रातःकाल उठते हैं, वे सबसे पहले अपनी मुरलीको ही सम्हालते हैं। चाहे भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ गोचारण करने जावें, वनमें चपल-से-चपल बाल-क्रीड़ाएँ करें, जलमें स्नान-केलि करें, छाक-भोजन करें, मुरली सदा उनके पास ही रहती है। वह क्षणभर भी भगवान्‌से विलग नही होती।

मुरलीसे हमें यही शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भी एकमात्र भगवान्‌के ही होकर रहेंगे, तो भगवान् भी हमें पलभर भी नहीं छोड़ेंगे ।

कदम्बके फलका भाव

कदम्बवृक्ष भगवान् श्रीकृष्णका अतिशय प्रिय वृक्ष है। भगवान्‌के अप्राकृत चिन्मय गोलोकधाममें भगवान्‌के दिव्य भवनके मध्य एक रत्न-वेदीके ऊपर कदम्बका विशाल वृक्ष है, भगवान् इसीकी छायामें नित्य विराजित रहते हैं। जो भगवान् सम्पूर्ण विश्वके आश्रय और सभीको छाया देनेवाले हैं, वे जिस कदम्बकी छायामें रहते हैं, उस कदम्बके माहात्म्यका वर्णन क्या कहकर किया जाय ?

यह कदम्ब-वृक्ष महाप्रलयका भी साक्षी रहता है। यह नित्य, सनातन है। यह सदा ही फला-फूला रहता है। यह कालाधीन नहीं, काल इसके आधीन है। अतः न इसमें पतझड़ होती है और न ही नवीन कोपलोंकी उत्पत्ति। इसके

पुष्पोंकी परम दिव्य सुगन्धसे सम्पूर्ण गोलोक महकता रहता है।

इसकी शाखाओंमें पुष्पोंके साथ-ही-साथ फल भी भरे रहते हैं। इन फलोंसे दिव्य प्रेम-रसका प्रवाह झरता रहता है। यह कदम्बका फल भगवान्के परम विशुद्ध प्रेमका द्योतक है। जिनके हृदयमें भगवान्के चरण नित्य विराजित रहते हैं, उनके हृदयमें भगवत्प्रेम भी सदा पूरम्पूर भरा रहे, यह कदम्ब-फलका वरदान भक्तको मिलता है।

अश्वत्थवृक्षका भाव

अश्वत्थ सभी वृक्षोंमें सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् अश्वत्थको अपना स्वरूप बताते हैं। ***''अश्वत्थः सर्व वृक्षाणाम्''*** अश्वत्थकी जड़,छाल, फल, गूदा, इसके स्कन्ध, इसकी शाखाएँ, पत्ते, आदि सभीमें रोगनाशक शक्तियाँ निहित हैं। यह वृक्ष वैद्यक-शास्त्रकी विभूति कहा जाता है। योगी इसीलिए इसकी छायामें निवास करते हैं। इसकी छाया सर्व-रोगनाशक है। भगवान् इसे अपने चरणोंमें स्थान देकर यही प्रकट करते हैं कि हे जगत्के जीवों ! मेरे चरणोंकी छायामें आते ही तुम्हारा समग्र भव-ताप सदा-सदाके लिए नष्ट हो जायेगा। भगवान्के चरणोंकी छायामें जो जीव नहीं हैं, जिन्होंने भगवान्के नामकी, भगवान्के भक्तोंकी, भगवान्के धामकी, उनकी लीलाओंकी, गुणगानकी शरण (आश्रय) ग्रहण नहीं की है, उन्हें ही मायागत दैविक, आत्मिक एवं भौतिक व्याधियाँ आक्रान्त करती हैं। जो भगवान्के चरणोंकी छायामें हैं, उनका तो रोम भी कभी आधि-व्याधिग्रस्त नहीं हो सकता।

दूसरा भाव यह है कि गीताशास्त्रमें भगवान्ने इस संसारको ऐसा अश्वत्थ बताया है, जिसकी मूल तो ऊर्ध्व है और शाखाएँ नीचे हैं :-

''ऊर्ध्वमूलमधः शाखा अश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।''

यह संसार-रूपी अश्वत्थ भगवान्के चरणोंमें नित्य स्थित है। यही भाव चरणचिह्नके रूपमें अश्वत्थवृक्षको रखकर भगवान् अपने भक्तोंके सम्मुख प्रकट करते हैं। अर्थात्, जो भी भगवान्के चरणोंका आश्रय लेगा, उसके लिये यह दुर्लन्घ्य भव-सागर गोखुरके गड्ढेके समान पार करनेमें सहज हो जायेगा, क्योंकि इस संसारके आधार तो भगवान्के चरण ही हैं।

कुंभका भाव

भगवान्के चरणोंमें जो कुंभ है, वह अमृतसे परिपूर्ण है। सम्पूर्ण देवजगत्की रक्षा इसी अमृत-कुंभसे ही होती है। देवासुर संग्रामके पूर्व भगवान्ने मोहिनी अवतार लेकर इस अमृत-कुंभको असुरोंसे छीन लिया था और इसका अमृत

देवताओंको पिलाया था। इसीलिये सम्पूर्ण वैदिक एवं तांत्रिक अनुष्ठानोंमें प्रथमतः घट-स्थापन किया जाता है। भगवान्‌के चरणोंमें यह अमृत-घट मूर्तिमान प्रत्यक्ष नित्य रहता है। इसका यही भाव है कि जो लोग भी भगवान्‌के चरणोंकी छायामें हैं, उनमें सम्पूर्ण दैवीसम्पदाओंका नित्य निवास रहेगा। उन्हें आसुरी-भाव कदापि स्पर्श नहीं कर पावेंगे। भगवान्‌के भक्तोंके सम्मुख आसुरी, राक्षसी, भूत-प्रेतजनित विपत्तियाँ आ ही नहीं सकतीं। ज्योंही भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तकी छाया भी उनपर पड़ी, वे बाधाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। आसुरी वृत्तियाँ भी भक्तके हृदयमें उपद्रव कदापि नहीं कर पातीं।

मीनका भाव

मीनका जलके साथ अनन्य प्रेम है। जलके वियोगमें मछली क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती। उसे जलसे निकालकर हम दूधमें, शरबतमें, मधुमें ही क्यों न रखें, वह कदापि प्राण धारण नहीं करेगी। जल ही उसके जीवनका एकमात्र अवलम्ब है। जल-विहीन वह बुरी तरहसे छटपटाने लगती है, उसका प्राणधारण करना ही असंभव हो जाता है।

भक्तका हृदय भी भगवान्‌के वियोगमें जब ऐसा ही छटपटाता है, तभी भगवान् उसके सम्मुख साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। भक्त भगवच्चिन्तनके बिना एक पल भी नहीं रह पावे, उसके प्राण कण्ठोंतक आ जावें, भक्तमें ऐसी लगन भजनके प्रति होनी चाहिए। अनुरागका अर्थ ही है, चिन्तन। हमारा मन विषयानुरागी है, जो विषयोंका पल-पल चिन्तन कर रहा है; जब वह भगवदनुरागी हो जायेगा तो फिर उसे विषय तो विषके समान लगेंगे एवं भगवान्‌का पल-पल चिन्तन ही उसके प्राणोंको तृप्त करेगा। मछलीसे भक्त यही शिक्षा लेता है।

मछली स्थिर शान्त नहीं है, वह अतिशय चंचल है, परन्तु उसकी सम्पूर्ण चंचलता मात्र जलमें ही है। इसी प्रकार हमारा यह चित्त भी खूब चंचल होकर भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण-गानके अथाह समुद्रमें भले कितनी ही दौड़ लगाता रहे, उसे हमें दौड़नेसे कभी नहीं रोकना चाहिए। हमारे मनका समग्र स्पन्दन मात्र भगवान्‌में ही होता रहे। ऐसे एकांगी, अनन्य प्रेमका आदर्श होनेसे ही भगवान्‌ने मछलीको अपने चरणोंमें स्थान दे रखा है।

दूसरे, मछली रस-ग्राहिका है। ज्योंही उसे कुछ भी खानेकी वस्तु मिली, वह अपनी मृत्युकी भी परवाह न करते हुए भी उसे जालके काँटेसे स्वीकार कर लेती है। इसीप्रकार भगवद्रसमें हमारा चित्त मछलीकी तरह रागासक्त हो जाये – यही शिक्षा भगवान्‌के चरणोंमें स्थित मछलीका चिह्न हमें दे रहा है।

सिंहासनका भाव

सिंहासन उसीको प्राप्त होता है, जो अन्य शत्रुओंपर विजय प्राप्तकर उन्हें निगृहीत कर सके। भगवान्के चरणोंमें स्थित सिंहासन हमें यही शिक्षा देता है कि तुम्हारे अन्तः और बाह्य जो भी करण (मन एवं इन्द्रियाँ) हैं, उनपर तुम्हारा पूर्ण निग्रह रहे। चंचल अन्तःकरण (चित्त) एवं बहिःकरण (इन्द्रियाँ) तुम्हें परमात्मासे काटकर क्षणभंगुर माया-पदार्थोंमें उलझाती हैं, अतः निश्चय ही ये तुम्हें स्वराज्य सिंहासनसे वंचित रखनेमें ही हेतु हैं। इनपर पूर्ण निग्रह कर लो, तभी भगवच्चरणोंमें निहित परमपदरूप सिंहासनकी प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् जो भगवान्के चरणोंका आश्रयी है, वह सिंहासनासीन सबका सम्राट् होता है।

देवता इन्द्रियोंके भी अधिष्ठाता हैं। नेत्रोंके अधिदेव सूर्य हैं, मनके अधिष्ठाता चन्द्रदेव हैं। हाथोंके अधिष्ठाता इन्द्र हैं। चरणोंमें भगवान् विष्णुका वास है। प्रजापति जननेन्द्रियके अधिदेव हैं; वरुण उदरके, भगवान् वासुदेव चित्तके अधिपति हैं, अहंकारके अधिष्ठाता भगवान् शेष हैं, एवं बुद्धिके अधिष्ठाता भगवान् रुद्र हैं। इन सभी मन-इन्द्रियोंपर जिसने विजय प्राप्त कर ली, वह सब देवताओंका भी सम्राट् हो जाता है। वैसे भक्तका परम विनयी एवं दीन होना, उसका शील है, परन्तु सत्य बात यही है कि भगवान् भी जब भक्ताधीन रहते हैं, तो देवताओंकी कहाँ सामर्थ्य है कि वे उस भक्तसे विमुख हो सकें। सभी देवगण भक्तको भगवच्चरणारविन्दानुरागी मान उसे सिंहासनासीन कर देते हैं।

जो मनुष्य भगवान्का निज-जन हो गया उसके भगवान् स्वयं भी आधीन हो जाते हैं। भगवान्के सभी गुण ऐश्वर्य, बल, ज्ञान, वैराग्य, धर्म एवं यश उस भक्तकी सेवा करने लगते हैं। यह तो स्वाभाविक ही है। जिसकी सेवा स्वयं राजा करेगा, तो राजाकी रानियाँ, सेनापति, मंत्री, राजाके आधीन बड़े-बड़े विद्वान् – सभी उसकी सेवा करनेको उत्सुक होंगे ही। अतः भगवान्का सर्वस्व भक्तकी सेवामें लग जाता है। यह अवश्य है, कि भक्त उनका उपयोग कभी अपनी स्वतंत्रमतिसे नहीं करता। उसे इन ऐश्वर्योंकी ओर देखनेकी फुरसत ही नहीं रहती। उसके भगवान् उसके सामनेसे जब क्षणभरके लिये हटें, तो वह दूसरी ओर दृष्टिपात करे। वह तो अपने भगवान्के चरणारविन्दके प्रेममें ही चौबीसों घण्टे छका रहता है। उसका चित्त तो भगवान्के सिवा किसी अन्य सत्ताको मान्यता ही नहीं देता। गोपियाँ उद्धवको कहती हैं :-

'ऊधो मन न भये दस बीस
एक हुतो सो गयो श्याम सँग को अवराधै ईस ॥'

अर्थात्, हे उद्धव ! हमारे पास दस-बीस मन तो हैं नहीं। मात्र, एक मन था, सो श्यामसुन्दरके साथ चला गया, अब ब्रह्मज्ञान-रूप ईश्वरोपासना कौन करे ?

भक्तकी यही विशेषता है कि उसका मन, 'मन' नहीं रहता वह 'भगवान्' ही बन जाता है, उसकी इन्द्रियाँ भी सभी भगवान्‌से एकाकार हो जाती हैं। वह स्वयं रहता ही नहीं, भगवान् ही उसके रूपमें लीलायमान रहते हैं। भक्तका सम्पूर्ण दृश्य भगवान्‌की परम मंगलमयी मूर्त्ति हो जाता है, और भक्तका द्रष्टा भगवान्‌का यंत्र (दास) हुआ, भगवान्‌के प्रेम-सिंहासनासीन हो, भगवान्‌के परम पावन चरणोंके पूजनमें डूबा रहता है। उसका देखना-सुनना, बोलना, हँसना, लिखना-पढ़ना, सोना-जागना सब भगवन्मय होता है। भगवत्प्रदत ऐश्वर्यका उसे भान ही कहाँ है ? वह परम निरभिमानी होनेके कारण अपनेको भगवान्‌का सच्चा दास भी नहीं समझता। वह तो अपने भक्तिभावगत दैन्यमें अपनेको परम अधम, पतित, दीन-हीन समझता हुआ सदा अपने आराध्य भगवान्‌के हेतुरहित प्रेमपर निर्भर रहता है।

इस प्रकार महादैन्यभाव ही भगवान्‌के चरणाश्रित भक्तकी शोभा होती है और इसीके वशवर्ती हुए भगवान् अपने चरण भक्तके हृदयमें स्थापित कर देते हैं।

भगवच्चरणोंमें अंकित सिंहासनका यह भी भाव है कि भगवान्‌का एवं भगवान्‌के चरणोंका यदि किसीको पता जानना एवं पूछना हो, तो वे भक्तके हृदयमें ही विराजित मिलेंगे। भक्तके हृदय-सिंहासनमें सदैव भगवान् आसीन मिलते हैं और भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नरूपमें स्थित सिंहासनमें भक्त आरुढ़ रहता है। अतः भगवान्‌के चरण तो भक्तका पता हैं और भक्तका हृदय भगवान्‌का पता है।

रथका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें रथका चिह्न है, उसमें घोड़े नहीं हैं। यह रथ घोड़ोंके बिना भी गतिशील है। यह स्वयं चेतन है। उसे चलानेके लिए भी किसी अन्य सारथीकी आवश्यकता नहीं है। कोई कहेगा कि बिना घोड़े एवं बिना सारथीके कोई रथ निर्धारित पथपर चले, यह बात बुद्धि-सम्मत नहीं है, तो निश्चय ही उसे अभी भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी शक्तिपर विश्वास नहीं है। भगवान्‌की कृपासे ऐसी विलक्षण शक्तियाँ तो भगवान्‌के भक्तोंमें भी देखी जाती हैं।

संत ज्ञानेश्वर नामक भगवान्‌के एक भक्त हुए हैं। एक दिन, वे अपने भाई-बहिनोंसहित अपने घरकी फूटी दीवारपर बैठे भगवद्वार्त्ता कर रहे थे। सहसा उन्हें किसीने सूचित किया कि महायोगी चांगदेव उनके पास उनसे मिलने आ रहे हैं।

ये चांगदेव एक सिद्ध योगी थे। इनकी आयु चौदह सौ वर्षकी थी। वे प्रत्येक सौ वर्षमें अपना शरीर कायाकल्पके द्वारा नवीन कर लेते थे। वे सिंहपर सवार होकर चलते और शरीरपर विषधर नाग लपेटे रहते । सिद्धियोंके अभिमानसे भरे, वे ज्ञानेश्वरपर अपने योग-वैभवकी छाप छोड़ना चाहते थे।

संत भगवान् ज्ञानेश्वरने उस अभिमानीका अभिमान चूर-चूर करनेकी ठानी। चांगदेव यद्यपि सिद्ध योगी थे, परन्तु वे भगवान्‌की भक्तिसे सर्वथा अछूते, कोरे थे। वे हृदयसे चाहते थे कि कोई मुझे भक्तिका मार्ग बतावे। परन्तु वे अपनेसे किसी अधिक शक्तिशालीकी शरण ग्रहण करना चाहते थे। जैसे कि कहावत है – ***'पानी पीजै छानके और गुरू कीजै जानके'*** – सो वे ज्ञानेश्वरजीको गुरु बनानेके पहले उनकी शक्ति-सामर्थ्यकी परीक्षा भी लेना चाहते थे।

ज्योंही ज्ञानेश्वरजीको सूचना मिली कि चांगदेव सिंहपर सवार होकर उनसे मिलने आ रहे हैं, तो उन्होंने चांगदेवके मनकी सारी बात जान ली। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि चांगदवेकी सिद्धियोंका अभिमान चूर-चूर होना ही चाहिये। बस, वे जिस दीवारपर बैठे थे, उसीको उन्होंने अपने मनसे संकल्पकर विमानकी तरह उड़नेमें समर्थ, गतिशील कर दी। चारों बहिन-भाई – निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, ज्ञानदेव एवं मुक्ताबाईको नभमें उड़ती दीवारपर बैठकर अपने पास आता देखकर चांगदेवका सिद्धियोंका सम्पूर्ण अभिमान चूर्ण-चूर्ण हो गया। वे अति लज्जित हुए ज्ञानदेवजीके चरणोंमें गिर पड़े। यह एक परम सत्य घटना है और महाराष्ट्र देशका बच्चा-बच्चा इस घटनासे परिचित है।

जब भगवान्‌के भक्त अपने संकल्पसे जड़-दीवारको गतिमान कर सकते हैं और वह दीवार स्वतः चांगदेवके आगमनकी दिशा एवं राह निर्धारितकर चलायमान हो सकती है, तो साक्षात् भगवान्‌के चरणोंमें अंकित चिन्मय रथ यदि बिना सारथी एवं घोड़ोंके स्वचालन-विद्या-पारंगत हो, इसमें अनहोनी क्या है ? भगवान्‌के संकल्पसे तो यह सम्पूर्ण चौदह-लोककी सृष्टि ही यथानियम सटीक चालसे गतिमान हो रही है।

भाव यही है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेवाला भक्त भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नित रथपर अत्यंत सुखपूर्वक आसीन हो जाता है और यह रथ उसे बिना घोड़े, बिना सारथीके ही भगवान्‌की मनःशक्तिसे संचालित हुआ भगवान्‌के परमधाममें पहुँचा देता है।

यथार्थतः भगवान् और भगवान्‌के चरण, दो पृथक् सत्ताएँ तो सर्वथा नहीं हैं। चरणोंकी प्राप्तिके पश्चात् भगवान्‌की प्राप्ति तो हो ही गयी। परन्तु भावुक-भक्त

प्रत्येक वस्तुको पृथक् लेकर ही अपने भाव-संसारका सृजन करता है।

ज्ञान एवं भक्तिमार्गमें यही अन्तर है। भक्तिमार्गी, भगवान्‌का समग्र स्नेह पाकर भी यही सोचता है कि अभी मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। उसकी भक्ति-साधना कभी समाप्त ही नहीं होती। वह सदा अपूर्णताके बोधमें ही रहता है। यद्यपि उसकी साधना भी भगवान्‌की अँगुली पकड़कर ही होती है। उसके हृदयमें भगवान्‌की प्रेममयी छवि पूर्ण भरी रहती है। उसके मस्तकपर भगवान्‌के वरद-हस्तकी छाया निरन्तर रहती है, परन्तु वह कभी अनुभव नहीं करता कि मुझे मेरी मंजिल मिल गयी।

ज्ञानी अपनेको प्रारंभसे ही 'पूर्ण' अनुभव करता है। उसका अन्य कोई सामर्थ्यवान् रक्षक तो होता नहीं, अतः पद-पदपर डाकू उसे लूटते रहते हैं। वह इन डाकुओंसे स्वयं अपनी ही शक्तिसे अपनी रक्षा करता है। यद्यपि उसमें जो भी शक्ति है, उसका मूलस्रोत भगवान् ही हैं, परन्तु ईश्वरकी शक्तिको वह अपनी शक्ति इसीलिए मान बैठता है, क्योंकि वह अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता स्वीकारता ही नहीं, इसीलिए, उसके ज्ञानाभिमानी हो जानेका प्रायः भय बना रहता है। अभिमान तो सब पापोंका मूल है ही, अतः उसके पतनकी भी संभावना अधिक रहती है। इसीलिए ***'ज्ञानके पंथ कृपाणकी धारा'*** कहा गया है।

रथका यह भी भाव है कि भक्तकी साधना परम चिन्मय भागवती रथसे होती है और इस परम सुखद यात्रामें चाहे मंजिल कभी नहीं मिले, परन्तु भगवान्‌के चरणोंके आश्रयमें यह यात्रा पद-पदपर भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य और सद्गुणोंके आस्वादनसे भरी परम रसमयी और उनके निरापद सान्निध्यसे भरी होती है।

धनुषका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो धनुष है – वह बिना प्रत्यंचा (डोरी) के है। बिना प्रत्यंचाके ही उसमें बाणका संधान भी होता है। भगवान्‌के चरणोंमें जितने भी धनुषादि आयुध हैं, उन सभीका उद्देश्य है, भक्तोंके एवं भक्तिके शत्रुओंका नाश हो जाय। भगवान्‌का अपना तो कोई विरोधी (शत्रु) न है, न होगा ही। इस विश्वमें सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं, तो वे स्वयं ही स्वयंके शत्रु तो हो नहीं सकते। हाँ, अपने भक्तके एवं भक्तिके शत्रुओंको, वे अपना विरोधी अवश्य मान लेते हैं। भगवान्‌में तो मंगलमयता ही मंगलमयता भरी है, अतः भगवान्‌के द्वारा भक्त एवं भक्ति-विरोधी असुर मारे जाकर भी तर जाते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नित जितने भी आयुध हैं, वे भी पूर्ण मंगलमूर्ति हैं, इनके द्वारा भी जितने भक्त

एवं भक्ति-विरोधी दुर्जन मारे जाते हैं, सभी प्रायः तर जाते हैं।

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌के चरणोंके आश्रितका कोई विरोधी रहता ही नहीं है। आगे-पीछे भक्तके सभी अनुकूल हो जाते हैं।

'जापर कृपा रामकै होई, तापर कृपा करैं सबकोई'

रामनामजपतां कुतो भयं, सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।।

भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तके लिए दाहिका-शक्ति शीतल हो जाती है। विष भी अमृत हो जाता है।

'गरल सुधा रिपु करहिं मिताई ।
गोपद सिन्धु अनल सितलाई' ।।

भक्त प्रह्लाद इसके उदाहरण हैं। जब भक्त भगवान्‌के प्रेममें सब कुछ भूले रहते हैं, तो उनके लिये भगवान् अग्निकी दाहिका-शक्तिको ही खींचकर उसे शीतल कर देते हैं। भक्तका प्रभाव विलक्षण है। सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी शक्ति भगवान् अपने भक्तकी रक्षाके लिये कुण्ठित कर देते हैं। परीक्षित्‌के लिये भगवान्‌ने उत्तराके गर्भमें जाकर ब्रह्मास्त्रकी शक्तिको कुण्ठित कर दी थी।

लौकिक दृष्टिसे भक्तपर दुःख आते हैं, परन्तु उसके अखण्ड भगवच्चरणाश्रय ग्रहण किये रहनेके कारण चरणोंमें चिह्नित आयुध उसकी सब विपत्ति नाश करते रहते हैं।

बाणका भाव

भगवान्‌के सभी कार्य विलक्षण होते हैं। वे भक्तके सभी शत्रुओंके नाशके लिए एक ही आयुध प्रयुक्त नहीं करते। बाणके द्वारा भगवान् जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंका नाश कर देते हैं। भगवान्‌के बाणोंमें अन्य प्राकृत बाणोंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि प्राकृत बाणोंमें गतिकी सीमा होती है, किन्तु भगवान्‌के बाणकी कोई गति-सीमा नहीं होती। यह बात जयन्तके उपाख्यानसे सिद्ध होती है।

भगवान् रामने जयन्तकी दुष्टतासे कुपित होकर एक घासकी सींकको बाण बनाकर उसपर लक्ष्य करके छोड़ी थी। वह तनिक-सी घासकी सींक इतनी अमोघ थी कि इन्द्रपुत्र जयन्त स्वर्गमें अपने पिता इन्द्रसे कैलाशमें भगवान् शंकरजीसे, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीसे, किसीसे भी न तो रक्षा पा सका, न ही अपनी रक्षा लोकलोकान्तरोंमें जाकर स्वयं भी उस सींकसे कर सका। सर्वत्र उसे भगवान्‌की वह सींक बाण बनी अपना पीछा करती दृष्टिगोचर हो रही थी।

अन्तमें भगवान् रामकी शरण ग्रहण करनेपर ही उसकी रक्षा संभव हुई। प्राकृत बाणोंको तो कोई भी लक्ष्यसे इधर-उधर होकर चुका भी सकता है, उन्हें कोई अपने बाणसे काट भी सकता है। महाभारत युद्धमें अर्जुनपर हुई अनेक शक्तियोंके प्रहारको भगवान्‌ने अपने रथ-संचालनके कौशलसे निष्फल कर दिया था। परन्तु भगवान्‌का बाण तो चिन्मय होता है, वह तो लक्ष्य-भ्रष्ट किया ही नहीं जा सकता। अतः भगवान्‌के चरणोंमें बाणका चिह्न इसीलिये है कि चरणाश्रयी भक्तके सभी जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंका यह बाण नाश करके ही रहे।

कौमोदकी गदा एवं देवदत्तनाम्नी असि

भगवान्‌के चरणोंमें चिह्नित बाण, जहाँ जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंका नाश करता है, ये गदा एवं असि नामक आयुध क्रियमाण एवं प्रारब्धादि पापकर्मोंका नाश कर देते हैं। तात्पर्य यही है, भगवच्चरणाश्रयी भक्तकी जाग्रत्, स्वप्न सर्वकालीन विपत्तिकी भगवान्‌के आयुधों द्वारा रक्षा हो जाती है।

सच्ची बात तो यही है कि भगवान्‌का सगुण-साकार विग्रह भक्तोंके लिये ही जगत्‌में प्रकट होता है। भगवान्‌के आयुध एवं भगवान्, असुरोंका नाश करते दृष्टिगोचर तो अवश्य होते हैं, परन्तु वास्तवमें विशुद्ध सत्त्वरूप भगवद्विग्रहद्वारा नाश क्रिया हो ही नहीं सकती। 'नाश' शब्द ही प्राकृत है और तमोगुण-प्रधान अधिदेव रुद्र ही प्रकृतिमें नाश-क्रिया करते हैं। विशुद्ध-सत्त्व तो अप्राकृत तत्त्व है और अप्राकृत तत्त्व भगवद्विग्रह एवं उसके सच्चिन्मय आयुधोंद्वारा नाश-क्रिया संभव ही नहीं है।

वैसे भगवान्‌के प्रति शत्रुता करनेवाले असुर, दुर्जय आसुरी विकारोंके ही प्रतिनिधि हैं। अघासुर सम्पूर्ण पाप-समुदायका प्रतिनिधि था। बकासुर दंभका, शिशुपाल पर-निन्दाका एवं तृणावर्त्त रजोगुणी काम-क्रोधादि वृत्तिका प्रतिनिधि था। ये विकार भगवान्‌की सम्पूर्ण सृष्टिको ही मानसीरूपसे आक्रांत किये रहते हैं। भगवान्‌के परम दिव्य आयुध, भगवान्‌के चरणाश्रित भक्तोंके हृदयसे इन विकारोंको नष्ट करने लगते हैं, तो ये सभी, विकाररूपसे तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु लीलारूपमें भक्तोंके हृदयोंमें बने रहते हैं, क्योंकि ये आयुध विशुद्ध सत्त्वरूप होनेसे इनका नाश नहीं कर पाते, उनकी शुद्धि करके उनका लीलोपयोगी रूपान्तरणभर कर देते हैं। देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्रोंमें कहते हैं :–

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।।६५।।

अर्थात्, सब आचार भगवान्‌को अर्पणकर चुकनेपर भी यदि काम, क्रोध अभिमानादि बचे हों तो, उन्हें भी उन भगवान्‌के प्रति ही करना चाहिये ।

इससे यही सिद्ध होता है कि भक्तोंके अन्दर काम-क्रोधादि विकार रहते हैं; अन्यथा, उनको भगवान्‌के प्रति प्रयोग करनेकी बात ही क्यों कही जाती? परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं, कि भगवान्‌के प्रेमी-भक्तोंमें विषयी पुरुषों-जैसे काम, क्रोध, अभिमानादि भाव रहते हैं। आसुरी सम्पदाके दुर्गुणरूप दूषित विषयासक्ति, हिंसा, द्वेष, क्रोध एवं काम – इनका तो महात्माओंमें बीज ही नहीं रहता। जो भक्त जगत्‌के संस्कारोंसे भी शून्य हो जाते हैं, जो लज्जा, घृणा, कुल, शील, मान, देह, गेह, भोग एवं मोक्षतककी सुधि भुलाकर अपने प्रियतम भगवान्‌पर न्यौछावर हो चुके हैं, इनके काम, क्रोध, अभिमानादि भी परम दिव्य होते हैं। उनका रूप शुद्ध होकर सर्वथा विलक्षण, दूसरा ही हो जाता है।

भक्तकी कामना कैसी विशुद्ध प्रेममयी होती है, जब वह रो-रोकर पुकारता है :–

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे ।।

हे देव ! हे प्रियतम ! हे विश्वके एकमात्र बन्धु ! हे हमारे मनको अपनी ओर बरबस खींचने वाले ! चे चपल ! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम ! हा ! हा ! तुम कब हमारे दृष्टिगोचर होओगे ?

इसी प्रकार श्रीकृष्णगतप्राणा रुक्मिणीजी भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं :– हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! आपके दिव्य गुण मेरे कानोंके द्वारा जब मेरे हृदयमें प्रवेश करते हैं, तो मेरे हृदयके तापको हरणकर उसे शीतल कर देते हैं। इसी प्रकार आपके दिव्यरूपकी भी बात है। आपके – समस्त नेत्रधारियोंकी दृष्टिके सबसे परमलाभ – रूप-सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त सारी लोक-लाजको छोड़कर आपपर अत्यन्त आसक्त हो गया है।

ये भक्तोंकी कामनाके दो उदाहरण हैं। ऐसे असंख्य उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं, जहाँ भगवद्‌कामी भक्त भगवान्‌की मिलनाकांक्षामें कामातुर हुए, विरहमें व्याकुल हुए, अपने हृदयके उद्गार प्रकट करते हैं। वे श्रीकृष्णकी कामनासे पीड़ित हुए सदा उन्हें पुकारा करते हैं।

अब भक्तोंके, क्रोधके आदर्श उदाहरणोंपर विचार करें – एक दिन श्रीकृष्णकी किसी खिझानेवाली चालसे श्रीराधाजी क्रोधमें भर जाती हैं। सखी जब उन्हें समझानेका प्रयास करती है, तो क्रोधमें भरकर वे उसे कहती हैं :–

"तू उनका नाम भी मेरे सामने मत ले; उनकी तो बात ही क्या है, मैं

काले रंगकी वस्तुमात्रका त्याग कर दूँगी। जीवनभर उनके विरह-तापसे जलती रहूँगी, परन्तु उनसे अब नहीं मिलूँगी।''

मिलौं न तिनसौं भूल, अब जोलौं जीवन जियौं ।
सहौं विरहको सूल, बरु ताकी ज्वाला जलौं ।

श्रीराधाजीके क्रोधकर रूठनेका एक और उदाहरण देखें। यह क्रोध कितना दूषणरहित है, इसपर भी ध्यान रखें। यहाँके ये उदाहरण पवित्र प्रेमके नामान्तर मात्र हैं। यहाँकी विधि ही सर्वोपरि प्रेमकी विधि है।

सखि नन्दलाल न आवन पावैं ।
भीतर चरन धरन जिन दीजो, चाहे जितै ललचावैं ।
ऐसनको विश्वास कहा री, कपट बैन बतियावैं ।
'नारायन' इक मेरे भवन तजि, अनत चहै जहँ जावैं ।।

ये सब उदाहरण तो महासिद्धभक्तोंके हैं। हम साधारण साधकोंको भी यदि काम-क्रोध-लोभ सतावें, तो हमें उन्हें भगवान्‌के प्रति ही लगा देना चाहिये। जो बातें हमारे लिये शास्त्रोंमें पतनकी हेतु बतायी गयी हैं, वे सभी भगवान्‌के प्रति प्रयुक्त होनेपर उन्नतिकी हेतु, साधक बन जाती हैं। यह निश्चय रखना चाहिये।

शास्त्र इसके प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवतमें परमहंसश्रेष्ठ श्रीशुकदेवजीके वचन हैं :—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।१०।२९।१५।।

काम, क्रोध, भय, स्नेह, तादात्म्य एवं मित्रता — सभीकुछ श्रीहरिसे जो करते हैं, वे अवश्य ही भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाते हैं।

कहनेका इतना ही अर्थ है कि भगवान् एवं भगवान्‌के आयुधोंद्वारा नष्ट किये जानेपर, सभी आसुरीभाव, दिव्य प्रेम-भाव धारण करके भक्त और भगवान्‌के हृदयमें पुनः जन्म ले लेते हैं। ये सभी भगवल्लीलाके सहयोगी पात्र हो जाते हैं।

भगवल्लीलामें स्वयं भगवान् यशोदामैयासे असत्य बोलते हैं। मैयासे भगवान्‌का यह दोष छुपा भी नहीं है, अतः वे उन्हें 'असद्‌विद्यावाचस्पति' की उपाधि तक दे डालती हैं। राधारानीसे भी भगवान् कपट करते हैं। इसी तरह, सखियाँ भी भगवान्‌से दुराव, छल, कपट करती हैं, असत्य बोलती हैं, तो लीला-पात्रोंमें ये उस समय आसुरी भावोंके प्रतिनिधि ही मूर्तिमान होकर भक्तों और भगवान्‌के हृदयमें पुनः प्रकट हो जाते हैं। परन्तु व्रजलीलामें उस समय, ये मलिना मायाके अन्तर्गत नहीं होकर, शुद्ध सात्त्विक शास्त्रोंद्वारा अनुमोदित

प्रेम-विकार बन जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने अपने मामा कंसको, जो मूर्तिमान अभिमान था, मारकर उसे अपने भक्तोंके हृदयमें स्थायी वास दे दिया। श्रीतुलसीदासजी महाराज अपने रामायण महाकाव्यमें कहते हैं :-

'अस अभिमान जाहिं जनि भोरें । मैं सेवक, रघुपति पति मोरें ।।'

भक्त इस अभिमानको सर्वथा त्यागना नहीं चाहता, अपितु इससे निरन्तर चिपका रहना चाहता है कि "मैं भगवान् का सेवक हूँ, मैं भगवान्‌का सखा हूँ, मैं भगवान्‌की जननी हूँ, मैं भगवान्‌की दासी हूँ, प्रिया हूँ।" इस प्रकारका भगवान्‌से ठोस सम्बन्धात्मक अभिमान भगवान्‌के सभी भक्त लीला-पात्रोंमें ठूँस-ठँसकर भरा रहता है। अपने हृदयसे वे इस अभिमानको कदापि हटाना नहीं चाहते। भक्तकी इतनी ही निष्कामता है कि स्वर्गके भोग एवं अपवर्गका तो वह काकविष्ठावत् त्याग कर देता है, परन्तु अपने प्यारे श्यामसुन्दरके मुखारविन्दके दर्शनकी कामनामें वह आपाद लिप्त रहता है। भगवान्‌की रूप-छटाको पान करनेकी कामना यदि भक्त त्याग दे, तो फिर वह भक्त ही कहाँ रहा ? तो, भगवान्‌को सुख देनेकी कामना अथवा भगवत्सेवाकी कामनाके रूपमें भगवद्भक्तमें, काम ज्यों-का-त्यों बना रहता है। श्रीतुलसीदासजी इन भगवत्कामी भक्तोंको सयाना कहते हैं :-

'अस विचारि हरि भगति सयाने, मुकुति निरादरि भगति लुभाने'

भगवद्भक्त मुक्ति-सुखका निरादर करके भी भगवत्प्रेम, भगवत्काममें डूबे रहते हैं। मुक्ति तो इन भगवद्भक्तोंकी दायभाक् होती है। जैसे पिताकी सम्पत्ति बिना प्रयासके पुत्रको स्वतः प्राप्त है, उसी प्रकार, मुक्तिपर तो भक्तोंका सहज अधिकार ही है। भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की लीलामें संयुक्त होना तो मुक्तिके परेकी वस्तु है। श्रीब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें आया है :-

कृष्णभक्तिः कृष्णदास्यं वरेषु च वरं वरम् ।
श्रेष्ठा पञ्चविधामुक्तेर्हरिभक्तिर्गरीयसी ।।

अर्थात्, वरोंमें श्रेष्ठतम वर श्रीकृष्णभक्ति, श्रीकृष्णदास्य ही है। पाँच प्रकारकी सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य, सार्ष्टि एवं अपुनर्भव – इन श्रेष्ठ मुक्तियोंसे हरिभक्ति ही श्रेष्ठ एवं गुरुतर है। अतः भक्तलोग मुक्तिका निरादर करके भगवत्प्रीतिके सुखसे चिपके रहते हैं।

भक्तोंमें कामना तो उसी प्रकार भरी रहती है, जैसी साधारण विषयी जीवोंमें रहती है। परन्तु भक्तोंकी कामना मात्र भगवान्‌पर केन्द्रित होती है। भक्तराज वृत्रासुरकी कामनाका स्वरूप तनिक देखें । वह कहता है :-

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे ।।
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।।

'हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकछत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी, नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके पंखविहीन, भूखे बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं; जैसे भूखे बछड़े अपनी माताका दूध पीनेको आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन ! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।

तात्पर्य यही है कि भक्त शुद्धकामी होता है। वह भगवत्कामकामी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज तो भगवान्‌से कामी, लोभी बनानेकी प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं :—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।

'हे प्रभो ! जैसे कामी पुरुषको नारी अतिशय प्यारी लगती है, एवं लोभीकी जैसे धनपर अतिशय प्रियता एवं कामना होती है, उसी प्रकारकी तीव्र चाह मेरे मनमें, हे भगवान् राम ! आपके प्रति हो।'

भक्तोंका यह भगवत्काम सारे सांसारिक कामोंको जलाकर, उनकी चिताकी भस्म शरीरमें रमाकर नाचता है। भगवान् शिव मूर्तिमान् भगवत्कामके अप्रतिम उदाहरण हैं। दूषित-काम इनके तृतीय नेत्रसे भस्म हो जाता है। वे समग्र कामनाओंकी भस्म लपेटकर दिन-रात प्रेमास्पद भगवान्‌के नामको रटते रहते हैं।

अग्निकुण्डका भाव

भगवान्‌का स्वभाव है कि वे भक्तके हृदयमें एकाकी, एकछत्र स्वामी होकर ही रहते हैं। काम-क्रोधादि विकारोंके साथ वे नहीं रह सकते। इसी तात्पर्यसे भगवान्‌के चरणोंमें 'अग्निकुण्ड' है। यह अग्निकुण्ड ऐसा है, जिसमें भक्तोंके सारे पाप-ताप भस्म हो जाते हैं। यह चिदग्निकुण्ड है।

हमारे समग्र कर्मोंकी आहुति इसी कुण्डमें पहुँचती है। कर्म-यज्ञके भोक्ता तो एकमात्र ईश्वरोंके ईश्वर, भगवान् हैं। अतः यह यज्ञकुण्ड भी है।

श्रीमद्भवद्गीतोपनिषद्‌में भगवान् कहते हैं :—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।

बेचारे देवता तो भगवान्‌का प्रसाद पाकर संतुष्ट हो जाते हैं। जो, जिस देवताकी भक्ति करता है, भगवान् उसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उसी देवताके रूपमें उस भक्तकी कामना पूर्त्ति कर देते हैं; जिससे उस देवताके प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है।

भगवान्‌के चरणोंमें जो अग्नि है, वह भगवान्‌से मिलानेमें परम हेतु बनती है। यह अग्नि भगवान्‌के चरणोंके साथ जैसे ही भक्तके हृदयमें प्रवेश पाती है, बस विरहाग्निके रूपमें यह भक्तको ऊपरसे तो जलाती प्रतीत होती है, परन्तु भीतर-ही-भीतर, यह भगवत्स्मृति एवं उनके ध्यानकी ऐसी सुखमयी परमशीतल गंगा बहाती है कि भक्त निहाल हो जाता है। इस प्रकार, भक्त भगवान्‌की स्मृतिका और भगवान् भक्तकी स्मृतिका अलभ्य सुख प्राप्त करते हैं।

जौ एवं तिलका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जौ एवं तिलके चिह्न हैं। जौका भाव यह है कि भक्तिमें लगा रहनेके कारण यदि कोई देवकर्म सम्पादित नहीं कर पाता, तो यह जौ आश्वासन देता है कि सम्पूर्ण देवकर्मोंका फल भक्तको भगवच्चरणारविन्दकी स्मृतिसे ही प्राप्त हो जायेगा। उस भगवद्भक्तसे समग्र देवजगत् स्वतः बिना उपासनाके ही सदा अनुकूल एवं प्रसन्न रहता है। इसी प्रकार, भगवच्चरणारविन्दमें स्थित तिल भी आश्वासन देता है कि भक्तकी भक्तिसे सम्पूर्ण पितृकर्म स्वतः ही पूर्ण सफलतापूर्वक सम्पादित हो जाते हैं। यथार्थतः सारे कर्मोंमें जो भी अपूर्णता होती है, वह भगवान्‌के नाम-स्मरण, नाम-संकीर्तनसे पूरी हो जाती है।

त्रिकोणके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो त्रिकोणका चिह्न है, वह - **'आदियोनि'** कहा जाता है। इसे महायोनि भी कहते हैं। इसी महायोनिमें सृष्टिकालके समय चैतन्य-बीज स्थापित होता है। यही प्रकृतिकी पूर्ण साम्यावस्था है। इसी महायोनिसे सम्पूर्ण लीलाजगत्‌की उत्पत्ति होती है। इस त्रिकोणके तीन बिन्दु ब्रह्मा, विष्णु, महेश किंवा सत्, रज एवं तम, तीन गुण हैं। ये समग्र गुण एवं इनके अभिमानी देवता त्रिदेव भगवान्‌के चरणोंमें नित्य निवास करते हैं। भगवान्‌के चरण ही सर्वाश्रय हैं, यही इस त्रिकोणका भाव है।

त्रिकोणके रूपमें भगवान् यह भी प्रकट करते हैं कि मुझे प्राप्त करनेके तीन ही मार्ग हैं – ज्ञान, भक्ति एवं निष्काम कर्म। ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेयकी एकतासे सिद्धि होती है, निष्काम कर्मयोगमें कर्ता एवं कर्म एवं कर्मफलकी एकतासे और भक्तिमें भक्त, भक्ति एवं भगवान् तीनोंकी एकतासे ही पूर्ण सिद्धि

बनती है। यह त्रिकोण यही बात दर्शाता है कि जो भगवान्के चरणोंका आश्रयी है, इस त्रिपुटीकी एकता उसे ही प्राप्त होती है।

नवकोणके चिह्नका भाव

नवकोणका चिह्न यह दर्शाता है कि नवधाभक्ति करनेसे इन चरणोंकी प्राप्ति सहज है, अन्यथा अन्य किसी साधनसे इनकी प्राप्ति असंभव है।

ब्रह्माजीका भाव

भगवान्के चरणोंमें जो ब्रह्माजी चिह्नरूपमें स्थित हैं, वे ही मूल हिरण्यगर्भ हैं। इन्हींसे वेद प्रकट होते हैं। इनका ही दूसरा नाम मूलप्रकृति है। ये भगवान्के चरणोंके नित्य आश्रित हैं। श्रीब्रह्माजीका स्थान भगवान्के चरणोंमें कमलके पास ही है। यह कमल ही आदि-पुष्प है। भगवान्के चरणोंमें रहकर ही ब्रह्माजी सृष्टि करनेकी सम्पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृजन भगवान्के चरणोंके द्वारा ही हो रहा है।

शेषनागका भाव

इसी प्रकार भगवान्के चरणोंमें शेषनाग है। महाप्रलयमें जब सब नष्ट हो जाते हैं, तो मात्र भगवान् ही शेष रहते हैं। इन शेष भगवान्के हजार मुख हैं और ये अपने हजारों मुखोंसे भगवान्के दिव्य गुणोंका अनवरत गायन करते रहते हैं। भगवान्की स्तुति ही इनका कर्म है। इसीसे भगवान् इनकी ही कुण्डलीपर प्रलयकालमें शयन करते हैं और प्रलय-पयोधिमें समाधिस्थ, इनकी स्तुति सुनते रहते हैं। इस कालमें भगवान्का नाम भी 'शेषशायी' ही होता है। ये अपने कर्मोंसे यही उपदेश देते हैं कि यदि भक्त भगवान्के नाम-गुण-कीर्तनमें लगा रहे, तो महाप्रलय भी उसका बाल-बाँका नहीं कर सकता।

महाप्रलय उन सब वस्तुओंको नष्ट कर सकता है, जो भगवान्से विमुख हैं। भगवान्से संयुक्त चाहे कोई उद्भिज भी यदि है, तो वह महाप्रलयमें भी पूर्णतया सुरक्षित है। मारकण्डेय ऋषिको जब महाप्रलयके दर्शन हुए थे, उस समय उन्हें स्पष्ट दिखाई पड़ा था कि जहाँ सूर्य, चन्द्र एवं सारे नक्षत्र भी प्रलय-पयोधिमें डूब गये थे, वहाँ एक वटवृक्ष अक्षय, अविनाशी था, क्योंकि उसके पत्तोमें चरणांगुष्ठ मुखमें चूसते भगवान् बालकृष्ण शयन कर रहे थे।

श्रीगीताशास्त्र भी कहता है :—

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

अर्थात्, जो भगवान् सम्पूर्ण सृजन, स्थिति एवं प्रलयको अपने रोममें धारण किये हैं, वे ही मात्र अविनाशी हैं। उन अव्यय भगवान् एवं उनकी वरद

स्मरण-छायामें रहनेवाले भक्तोंका नाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

तो, जहाँ सृष्टिके देव ब्रह्माजीका चिह्न यह प्रकट करता है कि सम्पूर्ण सृजन भगवान्के चरणोंसे ही हो रहा है, शेषनाग जो प्रलयके देव हैं, यह प्रकट करते हैं कि महाप्रलय भी भगवान्के चरणोंमें ही सबको पर्यवसित कर देता है। सर्वाश्रय भगवान्के चरण ही हैं।

अश्वके चिह्नका भाव

भगवान्के चरणोंमें अश्वका चिह्न है। इसका भाव यही है कि भगवान्के चरणाश्रयी भक्तकी अबाधगति होती है। जैसे देवर्षि नारदजी एवं अंगिरा ऋषि हैं। ये ऋषियों, मुनियों, देव-दानवों, असुरों, नागों, पितरों, सिद्धों, गन्धर्वों, योगियोंके सभी लोकोमें निर्बाध आ-जा सकते हैं। वे वैकुण्ठ, कैलाश, ब्रह्मलोक, सर्वत्र जाकर भगवान्के यथेच्छ दर्शन-मिलनका सौभाग्य प्राप्त करते रहते हैं।

दूसरा, इस अश्वके चिह्नका भाव यह है कि भगवान्के चरणोंके ध्यानसे हजारों अवश्मेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। अश्वमेध यज्ञ करनेवालेका जन्म-मरणका चक्र, आवागमन छूटता नहीं है। वह उत्तम-से-उत्तम स्वर्गाधिपति इन्द्रकी गति भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु अपुनर्भव गतिको नहीं प्राप्त कर सकता। कोई बहुत भगवत्कृपापात्र हो तो उसकी क्रमशः मुक्ति भले ही हो जाय, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें एक बार भी आत्म-निवेदन करके प्रणाम करनेवाला फिर जन्म-मरणके चक्रमें कदापि नहीं पड़ता।

गजराजके चिह्नका भाव

भगवान्के चरणोंमें गजराजका चिह्न है। यह भगवान्के अपूर्व वात्सल्यकी स्मृति कराता है। गजराजने ग्राहसे युद्ध करते हुए अन्तिम समयमें भगवान्को पुकारा था। पुकारते ही भगवान् दौड़े आये। अपने गरुड़-वाहनको भी, उन्होंने शीघ्र पहुँचनेकी त्वरामें त्याग दिया। अपने भक्तोंके प्रति भगवान्का कैसा वात्सल्यभरा भाव है, इसे ही यह चिह्न दर्शाता है।

गरुड़के चिह्नका भाव

गरुड़ भगवान्का वाहन हैं, गरुड़जी, जो भगवान्के वाहन हैं उनकी गति मनसे भी तीव्र है। इस चिह्नका यही भाव है कि भक्त ज्योंही भगवान्के चरणारविन्दकी पूजा करता है, गरुड़जी फिर उसे तत्क्षण ही भगवान्की गोदमें पहुँचा देते हैं। उसे अविलम्ब भगवत्प्राप्ति होती है।

दूसरे गरुड़जी सर्पोंका भक्षण कर जाते हैं। इसका अर्थ यही है

भगवच्चरणारविन्दका ध्यान करनेमात्रसे गरुड़जी भक्तके सभी विषय-विषधरोंका भक्षण कर जाते हैं।

अष्टकोणके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो अष्टकोणका चिह्न है, उसके सम्बन्धमें तन्त्र ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारके भाव आये हैं। यह अष्टकोण अष्टदिशाओंमें भगवान्‌के स्वरूपको न्यस्त करता है। साधक अनुष्ठान करते समय आठों दिशाओंमें अपने इष्टदेवको स्थापित करता है। वह आठों दिशाओंमें अपने भगवान्‌की उपस्थिति अनुभव करता है।

उपनिषदोंमें कहा गया है :–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोन्ततरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।

अर्थात्, भक्त अनुभव करता है कि सर्वत्र सब ओरसे हमारे लिये मंगलका, परम आनन्दका स्रोत बह रहा है। ऐसा इसलिए कि एकमात्र प्रभु ही सदा सर्वत्र विराजित हैं। वे हमारे आगे हैं, हमारे पीछे हैं, दाहिनी ओर वे ही हैं और बाँयी ओर भी वे ही हैं। वे नीचे भरे हैं एवं ऊपरकी ओर भी वे ही पूर्ण हैं। सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें वे ही हमें दीख रहे हैं।

ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता सर्वत्र जैसे ब्रह्मको देखता है, भक्त वैसे ही अपने भगवान्‌को अपनी आठों दिशाओंमें पाता है।

अष्टकोणका भाव आठों सिद्धियोंसे भी है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण-कमल नित्य अखण्ड विराजित हैं, उसकी सेवा आठों सिद्धियाँ गुप-चुप बिना प्रकट हुए करती हैं, क्योंकि भक्त तो अपने भगवान्‌के सिवा अन्य सिद्धियोंको काक-विष्ठावत् घृण्य मानता है। उसके सामने तो जाग्रत्-स्वप्न, सब समय भगवान् ही मुसकाते रहते हैं। वह अन्यकी ओर ताकता-झाँकता भी नहीं है। उसे तो भगवान्‌से इतर अन्य को देखनेका अवकाश ही नहीं है। फिर भी सिद्धियाँ भक्तकी सेवा करती रहती हैं, क्योंकि सिद्धियाँ भी रहती तो भगवान्‌के चरणोंमें ही हैं और भगवान्‌के चरण भक्तके हृदयमें निवास करते हैं, अतः सिद्धियोंपर न चाहते हुए भी भक्तका स्वाभाविक ही पूरा वर्चस्व हो जाता है।

हरिणके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें जो हरिणका चिह्न है, उसका भाव भक्तोंको अतीव सुख देनेवाला है। हरिणका चित्त अत्यन्त सरल होता है। वेणुके मधुर स्वरपर वह अपने-आपको, अपने पकड़नेवालेके हाथमें दे देता है। मृत्युकी उसे तनिक

भी परवाह नहीं रहती। हरिणकी तरह भगवद्भक्त भी अति सरल-चित्त होता है। भगवान्की मुरली-ध्वनि ज्योंही उसके कानमें पड़ती है, वह सारी सुध-बुध खोकर भगवान्की ओर दौड़ पड़ता है। रासपूर्णिमाके सन्ध्याकालमें शरच्चन्द्रके समुदित होते ही जब भगवान्ने वंशीमें गोपियोंका नाम ले-लेकर उनका आह्वान किया, तो गोपियाँ तत्क्षण ही अपना घर-द्वार, यहाँ तक कि शरीरकी भी सुधि खोकर भगवान्की ओर दौड़ पड़ी थीं। उन्होंने उस आत्मविस्मृतिके प्रवाहमें अपना ऐसा उलटा-सीधा शृंगार किया था कि उनके उस विकृत वेषको देखकर भगवान् स्वयं प्रेम-विभोर हो उठे थे। वे लहँगेको तो अपनी ओढ़नी बनाये सिरपर ओढ़े थीं और ओढ़नीको लहँगा बनाये थीं। कुछ गोपियोंने, जिन्हें घरवालोंने कपाट लगाकर रोक लिया था, अपने प्राण ही उस मुरली-ध्वनिपर न्यौछावर कर दिये। भगवान्की मुरली सुनकर भक्तकी भी यही दशा होती है। वह मुग्धमृगकी तरह समस्त सुध-बुध खोकर भगवान्में पूर्णतया तल्लीन हो जाता है।

भैया ! गोपियोंकी बात तो शास्त्रोंमें लिखी है कि उनकी ऐसी दशा साक्षात् भगवान्के मुरलीवादनपर हुई थी, परन्तु मैंने श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की यह दशा अपनी आँखों देखी है। श्रीगोँस्वामी चिम्मनलालजी ज्योंही कोई भगवल्लीला अथवा भगवद्गुणानुवादका पद-गायन उन्हें सुनाते हैं, वे इतने विभोर हो जाते हैं कि उन्हें यही ज्ञान नहीं रहता कि वे कौन हैं, कहाँ हैं एवं उन्हें क्या कहना है ?

श्रीनारदजीके चिह्नका भाव

भगवान्के चरण-कमलोंमें नारदजीका निवास है। श्रीनारदजी प्रेमाभक्तिके पूर्ण प्रतीक हैं। भगवान्की भक्ति एवं प्रेमको, वे मुक्त हस्तसे सभी अधिकारियोंमें वितरण करते हैं। डाकू बाल्मीकिको उन्होंने ही ऋषि बनाया था। उन्होंने उन्हें 'राम' मंत्रकी 'मरा' शब्दकेरूपमें दीक्षा दी थी। तत्पश्चात् श्रीनारदजीकी ही प्रेरणासे बाल्मीकिजीने रामायण महाकाव्य लिखा था। इसी प्रकार श्रीवेदव्यासजीको श्रीकृष्ण-गुणगानात्मक श्रीमद्भागवत ग्रन्थ लिखनेकी प्रेरणा भी श्रीनारदजीने ही दी थी। श्रीशुकदेवजी जैसे ज्ञानी, अद्वैतनिष्ठ, विरक्त महात्माको भी नारदजीने ही भगवद्भक्तिमें प्रवृत्त किया था। श्रीभक्तराज प्रह्लादजी, जब हिरण्यकशिपु-जैसे असुरकी पत्नी आसुरी नारी कयाधूके गर्भमें थे, तो कयाधूको अपने आश्रममें रखकर नारदजीने ही भगवद्भक्तिका सत्संग कराया था। इस सत्संग-उपदेशसे उन्होंने गर्भस्थ बालक प्रह्लादमें भक्तिका ऐसा मर्म प्रतिष्ठित कर दिया कि उनकी जोड़ीका उच्चकोटिका आजतक कोई भक्त नहीं हुआ। नारदजीके उपदेशसे

प्रह्लादजीकी माता भी भक्तिपरायण हो गयीं थी।

नारदजी भक्तोंके आदर्श हैं। वे अहर्निश प्रेमाभक्तिमें आत्मविस्मृत रहते हैं एवं जहाँ कहीं भी गमन करते हैं, भगवत्प्रेम एवं भगवद्भक्तिको ही भक्तोंके हृदयमें अभिवर्द्धित करते रहते हैं।

मनुष्याकृतिमें नारदजी, ब्रह्माजी, एवं श्रीराधिकाजी भगवान्‌के चरणोंमें हैं। ब्रह्माजी एवं नारदजीका भाव संक्षेपमें निवेदन कर ही दिया है।

राधिकाजीका भाव

श्रीराधिकाजीको जो भगवान्‌से पृथक् मानते हैं – वे महान् पापके भागी हैं। भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका तो उनकी आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधाजीको लेकर ही आविर्भाव होता है। श्रीराधाजी आह्लादसार हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दकन्दवपु हैं। आह्लादतत्त्वके बिना आनन्दकन्दवपुका प्राकट्य ही असंभव है। अतः श्रीराधारानी ही भगवान् श्रीकृष्णके सच्चिदानन्दकन्द विग्रहको प्रकट करनेमें एकमेव हेतु हैं।

आह्लाद ही तो आनन्द हैं। अतः राधाकृष्ण दोनोंका युगपत् इस प्रकारका सम्बन्ध है, जैसे सूर्य एवं किरणका, अग्नि एवं तेजका, जल एवं रसका, पृथ्वी एवं गन्धका; भगवान्‌का जब-जब, जहाँ-जहाँ प्राकट्य हुआ है, श्रीराधाजी सदा उनके साथ रही है। राधाजीका निवास भगवान्‌के चरण हैं। जिन भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌के चरण विराजित हैं, वहाँ उस हृदयमें श्रीराधाका निवास अवश्यमेव है, भले ही वह प्रकटरूपमें नहीं दृष्टिगोचर होता हो; परन्तु प्रेमाभक्तिभावरूपमें श्रीराधाके बिना भगवान् भक्तके हृदयमें प्रविष्ट हो ही नहीं सकते।

पीताम्बरका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें दिव्य पीताम्बर भी चिह्नरूपमें स्थित है। भगवान्‌के वस्त्र-आभूषण, गुण-आयुध आदि सभी अप्राकृत एवं चिन्मय हैं। इन्हें साक्षात् भगवान्‌का रूप ही मानना चाहिये। इन्हें कभी-भी भगवान्‌से पृथक् नहीं किया जा सकता। ये भगवान्‌के अंग-अवयवोंकी तरह अनिवार्य भगवद्भाग हैं।

पीताम्बरका रंग श्रीराधाजीके वर्णका – कनकाभ है। श्रीराधाजीका वस्त्र नीलाम्बर, ठीक श्रीकृष्णके वर्णका घनश्यामवर्ण है। वैसे श्रीराधाजीको वस्त्ररूपमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण आच्छादित किये रहते हैं, एवं श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णको वस्त्ररूपमें आवरित किये हैं।

पीताम्बर उच्चतम प्रेमकी अद्वैतावस्थाका प्रतीक है। इस पीताम्बरके

अन्तरालसे भगवान्‌का नीलवर्ण झाँई देता रहता है। इस दिव्य-योगमें श्रीराधाकृष्णकी सम्पूर्ण युगल मिलनाभा झलमल करती रहती है। इसी प्रकार, श्रीराधाजीके नीलाम्बरमें श्रीराधाका कनकवर्ण झाँई देता है और सम्पूर्ण युगल मिलनाभा प्रकाशित होती है। जिसके हृदयमें अखण्डरूपसे भगवान्‌के चरण-कमल विराजित रहते हैं, उसे प्रेमकी सर्वोच्च महाभाव दशा प्राप्त होना परम सुलभ है। यही भाव चरण-चिह्नके रूपमें श्रीराधाजीकी छवि अभिव्यक्त कर रही है।

दिव्य पुष्पका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें परम चिन्मय पुष्प है। इसका सम्बन्ध योग-क्रियासे प्राप्त योग-संसिद्धिसे है। योगी लोग जब अपने शिष्य साधकपर परम प्रसन्न होते हैं, तो उन्हें एक पुष्प दिया करते हैं। यह पुष्प अप्राकृत योग-पुष्प होता है। यह दिव्य पुष्प जैसे ही शिष्य अपने सिद्ध योगीगुरुसे प्राप्त करता है, वह स्वयं चिन्मय एवं दिव्य हो जाता है। जैसे ही शिष्य योगीश्वर गुरुओंसे दिव्य पुष्प प्राप्त करता है, उसकी साधना पूर्ण हो गयी माननी चाहिये। भगवान् तो योगेश्वरेश्वर हैं। भगवान्‌के चरण-कमल जिस साधकके हृदयमें बसते हैं, उसे योगकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। उसको समग्र साधनाकी सिद्धिरूप फलकी प्राप्ति हो गयी, ऐसा ही मानना चाहिये ।

इस दिव्य पुष्पको कुछ भक्तोंने पारिजात पुष्प भी माना है। परन्तु पारिजात पुष्प तो लौकिक स्वर्गकी ही सम्पदा है; भगवान्‌के चरण तो परम चिन्मय हैं।

छत्रका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें छत्र है। छत्रके दो प्रमुख भाव हैं। जिस भक्तको भगवान्‌के चरणोंका आश्रय प्राप्त हो जाता है, उसका, विषयोंके अभावका ताप तथा विषयोंकी बहुलताकी वर्षा – कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। जिन आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक त्रितापसे सम्पूर्ण त्रिलोकीके देवदानव, राजा-महाराजा, निर्धन-धनवान्, कीट-पतंगसे लेकर ब्रह्माजीतक सभी जीव-समुदाय त्रस्त हैं, इन तीनों तापोंसे भक्तकी यह छत्र सदा-सर्वदा रक्षा करता है। जो भगवान्‌के चरणोंकी छायामें आ गया, उसपर देवता भी छत्र-छाया करते हैं।

बाजूबन्दका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें बाजूबन्दका चिह्न है। यह भक्तकी साधन-शक्ति (बाहुओं) की कवचवत् रक्षा करता है। भगवान्‌का बाजूबन्द-आभूषण तो अप्राकृत है। इसके बिना उनका श्रृंगार पूरा होता ही नहीं। जिसने भगवान्‌के चरणोंका

आश्रय लिया, उसके सम्पूर्ण योगक्षेमका भार भगवान्‌पर है, उसकी सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक विपत्तियोंकी कवचवत् भगवान्‌का यह बाजूबन्द रक्षा करता है तथा वह भक्त त्रिलोकीका परम भूषण हो जाता है — यही इस बाजूबन्दका भाव है।

शंखका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें शंख है। शंख भगवान्‌का विशेष आयुध है। विष्णुरूपमें यह सदा भगवान्‌के हाथमें रहता है। शंख विजयका चिह्न है। जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण-चिह्न रहते हैं, वह सभी शत्रुओंपर विजयी रहता है। उसके सब विरोधी शंख-ध्वनिसे ही नष्ट हो जाते हैं। हमारे यहाँ मन्दिरोंमें अथवा घरोंमें भी पूजनके समय जो पवित्र शंख-ध्वनि की जाती है, उसका यही भाव है कि शंख विष्णुरूप होनेसे समग्र अशुभ ग्रहों, भूत-प्रेतादि सभी आसुरी आवेशोंसे रक्षा करता है। उसकी ध्वनि परम मंगलकारी होती है।

ऊर्ध्वरेखाका भाव

जिस किसीके चरणोंमें ऊर्ध्वरेखा होती है, वह सामुद्रिक ज्योतिष-शास्त्रानुसार सदा उन्नतिकी ओर ही अग्रसर होता है। उस मनुष्यकी दृष्टि उदात्त, ऊँचे विचारोंमें रमती है। भगवान्‌के भक्तका — जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण स्थापित रहते हैं — सर्वभूतके प्रति अतिशय कल्याणकारी, सर्वत्यागमय एवं अतिशय उदार भाव ही रहता है। भक्तकी गति सदा ऊर्ध्व ही रहती है। *'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'* जब सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष भी ऊर्ध्व-गतिमान् होता है, भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तका ऊर्ध्व-गतिमान् होना तो अकाट्य निश्चय ही मानना चाहिये। सबसे ऊर्ध्व तो भगवान् स्वयं ही हैं। भगवान्‌से ऊर्ध्व किसीका होना तो सर्वथा ही असंभव है और भगवच्चरणाश्रयी भक्तकी गति अबाध, अपने प्रियतम, प्राणवल्लभ भगवान्‌की ओर ही होती है।

ऊर्ध्वलोक तो प्राकृत हैं, अतः भक्तकी उनकी ओर कभी दृष्टि ही नहीं जाती। उसके इन लोकोंकी ओर ललचानेका तो प्रश्न ही नहीं है। उसके गन्तव्य तो मात्र परमात्मा हैं।

राजा बलिके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें राजा बलिका भी चिह्न है। भगवान् राजा बलिको ठगने गये थे एवं स्वयं ठगे गये। उन्हें बलिके द्वारपाल होकर बने रहना पड़ा। भगवान्‌ने बलिके मस्तकपर अपने सुर-मुनि-दुर्लभ परम चिन्मय चरणतल रख दिये। इतना ही नहीं, उन्होंने सदा-सदाके लिये बलिको अपने चरणोंमें स्थायी

रूपसे निवास ही दे दिया। बलिकी आकृति ही भगवान्‌ने अपने चरणोंमें अंकित कर ली। इससे बढ़कर किसीके भी सौभाग्यकी और क्या बात हो सकती है ? बलिको पहले ऐश्वर्यमद था। भक्तराज प्रह्लादने, जो बलिराजाके पितामह थे, बलिको पहले बहुत समझाया। परन्तु बलिने उनकी बात नहीं मानी। भक्तराज प्रह्लादजीने देखा कि इसकी बीमारी तो बहुत ही बढ़ गयी है। उन्होंने बलिकी मंगलकामनाके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान् वामन बनकर आये और बलिके समग्र राज्यको उन्होंने मात्र एक पगमें ही नाप लिया। भगवान् जिसपर कृपा करते हैं, उसका धन हर लेते हैं। सांसारिक कार्यमें उस व्यक्तिको पूर्ण असफल कर देते हैं।

संसार तो सफलताका ही पुजारी है। असफल व्यक्तिसे वह अपनी आँखें निरर्थक, फालतू समझ हटा लेता है। असफल व्यक्तिके घरवाले भी अपने नहीं होते। सभी उसका घोर तिरस्कार करते हैं। तिरस्कारसे उसे वेदना होती है, उस वेदनासे व्यथित, वह भगवान्‌को सहज ही स्मरण करता है, क्योंकि अब तो उसके एकमात्र वे ही शरण्य रह जाते हैं।

जैसा राग होता है, भगवान् वैसी ही उसे दवा भी देते हैं। भगवान्‌ने बलिका धन हरण कर लिया। परन्तु सुदामा को धन दिया। भगवान्‌ने नारदजीको उनके विवाहके लिये उत्सुक होनेपर बन्दरका रूप देकर सर्वत्र उपहासका पात्र बनाया, परन्तु भगवान् शंकर, जो परम विरक्त थे, उनका विवाह रचाया। शंकरजीकी बारातमें भगवान् स्वयं गये थे।

राजा बलिका ऐश्वर्यमद उसे घोर नरकोंमें ले जाता। अतः भगवान्‌ने उसे जबर्दस्ती युद्ध करके छीन लिया। परन्तु उस पाप-वस्तुको हरकर भगवान्‌ने बलिको अपने-आपका दान कर दिया। बलिका समग्र राज्यविस्तार तो भगवान्‌ने अपने एक पगमें नाप लिया था। अब बलि अपनेको परम अकिंचन अनुभवकर भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित हो गया। भगवान्‌को बलिने साष्टांग प्रणाम किया। उसके ऐश्वर्यमद, बलमद, पुण्यमद सभी धूलमें मिल चुके थे। उसके पास मात्र भगवच्छरणागतिके, अन्य कोई चारा ही नहीं था। अतः उसने भगवान्‌के चरणोंका सर्वप्रकारसे आश्रय लेकर उन्हें अपने मस्तकपर रख लिये, और जो भगवान्‌के परमोदार चरणोंको अपने मस्तकपर रख लेता है, भगवान्‌के चरण उसके स्वयं भगवान्‌को ही बाँध देते हैं। बस, भगवान् बलिके बन्धनमें आ गये।

दर्पणका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें दर्पणका चिह्न है। दर्पणमें प्रत्येक व्यक्तिका प्रतिबिम्ब

दीखता है। यह जगत् भगवान्‌का प्रतिबिम्ब है। इसमें सर्वत्र भगवान् ही भगवान् भरे हैं। भगवान्‌के चरणाश्रयी भक्तकी ऐसी ही सत्य एवं परम निर्मल दृष्टि हो जाती है। जो भगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं लेता, उसे संसारकी, मायाविकृत, त्रितापदायी, विषम छबि ही दीखती है। उसे सर्वत्र भगवान्‌की सत्ताका पूर्ण अभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

दर्पणके सम्मुख जो जैसा रूप लेकर आयेगा, दर्पण उसे उसका वही रूप दर्शायेगा। ठीक इसी प्रकार, भगवान् कहते हैं :—

''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''

अर्थात्, जो जिस भावसे मुझे भजता है, मैं उसे उसकी ठीक निष्ठानुसार, वैसा ही दिखाई पड़ता हूँ। मैं उसके भावोंका पूर्णतया प्रतिपादन करते हुए ही उसका भजन करता हूँ – दर्पणका यही भाव है।

सुमेरु पर्वतका भाव

भगवानके चरणोंमें सुमेरु पर्वत है। सुमेरुका अर्थ है – सुन्दरतम आधार। 'सु' अर्थात् सुन्दरतम, 'मेरु' अर्थात् आधार। सुमेरुको लोग सोनेका पहाड़ भी मानते हैं। परन्तु वास्तवमें सुमेरु तीन लोक एवं चौदह भुवनोंका आधार है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, सभी सुमेरुके ही आधारपर स्थित हैं। सुमेरु कालका भी आधार है। वह रात-दिवसकी सन्धिकालका भी आधार है। सुमेरुको स्वर्णमय इसीलिये कहा जाता है, क्योंकि त्रिलोकीका सर्व-वैभव सुमेरुके आश्रयमें ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण आनन्द-वैभवके आधार, भगवान्‌के चिन्मय चरण हैं। जिन्हें भगवान्‌के चरण प्राप्त हो गये, उन्हें आनन्दका, प्रेमका सुमेरु ही प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌के चरणोंमें चिह्न रूपमें अंकित इस पर्वतको अनेक भक्त 'सुमेरु' नहीं मानकर गिरिराज गोवर्धन पर्वत मानते हैं। इस गोवर्धन पर्वतको भगवान्‌ने अपनी कनिष्ठिकाके नखपर धारण किया था। देवराज इन्द्रके, व्रजपर कोप करनेपर, इसे भगवान्‌ने अपना छत्र बनाकर इन्द्रका गर्व नष्ट कर दिया था। उसकी इस भक्तिके पुरस्कार-स्वरूप भगवान्‌ने इस पर्वतको अब अपने चरणोंमें चिह्नके रूपमें स्थायी स्थान दे दिया है। यही इस चिह्नका भाव है।

घण्टिकाका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें घण्टिकाका चिह्न भी है। यह घण्टिका भगवान्‌को विशेष प्यारी है। भगवान्‌की कटि-करधनीमें छोटी-छोटी घण्टिकाएँ लगी हैं। इनका अति सुन्दर तांत्रिक भाव है। पूजा-कर्मकाण्डमें घण्टिकाका बहुत ही

महत्त्व है। पूजामें समय-समयपर घण्टानाद करना परमावश्यक है। घण्टेमेंसे जो ध्वनि प्रसरित होती है, वह अनहद-नाद जैसी ही है। यह सृष्टिका मूल-नाद है।

अनहद-नादमें दस प्रकारके नाद निहित होते हैं। इसमें तीसरा नाद घण्टिका का होता है। घण्टी – 'क्लीं', 'क्लीं' शब्दका उच्चारण करती है। यह भगवान् श्रीकृष्णका प्रेम-बीज मंत्र है। यह महाबीज है। यह महाबीज सृष्टिका मूल प्रसूति-नाद मंत्र है। इस महाबीजका उद्भव, क्योंकि घण्टिकासे ही हुआ है, इसीलिये भगवान्‌के चरणोंमें घण्टिकाका स्थान है।

वीणाके चिह्नका भाव

भगवान्‌के चरणोंमें वीणाका चिह्न भी है। मुरलीके अतिरिक्त भगवान्‌को वीणा अतिशय प्यारी है। मुरली तो भगवान् स्वयं धारण किये रहते हैं और स्वयं ही बजाते हैं, परन्तु वीणा तो भगवान्‌की प्रिया राधाजीकी सखियोंके हाथोंमें रहती है और वे ही इसे बजाकर भगवान्‌को मुग्ध कर देती हैं। कभी-कभी गायनोत्सवमें भगवान् मुरली बजाते हैं और श्रीराधाजी वीणा बजाती हैं, उस समय प्रेम-संगीतोत्सवमें ऐसी दुर्लभ बहार आती है, जिसका वर्णन ही असंभव है। तारवाद्योंमें सबसे आदि वाद्य वीणा है।

अनेक भक्तोंके भावानुसार भगवान्‌के चरणोंमें जो वीणा है, वह ब्रह्मवीणा है। भगवान्‌ने इसे अपने परमभक्त नारदजीको प्रदान कर रखी है। यह वीणा जो नारदजीके हाथमें रहती है – भगवान्‌का नाम गायन करती है । जिसके हृदयमें भगवान्‌के चरण बसते हैं उसके कानमें वीणाके समान परम सुरीला भगवान्‌का नाम निरन्तर ध्वनित होता रहता है।

जब मैं सर्वप्रथम श्रीभाईजीके पास गीतावाटिकामें पहुँचा था, तो उस दिन आश्विन शुक्ला एकादशी थी। मैं मात्र तीन दिन ही गीतावाटिकामें रहा था। जहाँतक मुझे स्मरण है, वह काल रासपूर्णिमाका मध्यरात्रिका काल रहा होगा। उस मध्यरात्रिमें शुभ्र चाँदनीमें मुझे अतिशय मधुर स्वरमें 'हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' महामंत्रकी ध्वनि सुनायी पड़ी। यह नाम-गायन इतना मधुर एवं सुरीला था कि मेरा सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठा। उन दिनों मैं कट्टर वेदान्ती था। **'सोऽहं'** मंत्रका जाप किया करता था। दिन-रात, सब समय ब्रह्मविचारमें ही निमग्न रहता था। इस नाम-ध्वनिके श्रवणने मेरा-ब्रह्म-विचार तो स्थगित कर ही दिया साथ ही मुझे परम भावुक बनाकर इस नाम-ध्वनिके साथ अपना कण्ठ-स्वर मिलाने को भी विवश कर दिया। इस अतिशय सुरीली ध्वनिमें अपना कण्ठ-स्वर मिलाकर, मैं

भी बरबस महामंत्रका गायन करने लगा। कुछ ही क्षणोंके पश्चात् मेरे शरीरमें तीव्र रोमाञ्चके साथ-साथ सात्त्विक कम्पोदय होने लगा। मेरी आँखोंसे अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मैं अपनेको रोक ही नहीं पा रहा था। यद्यपि, मैं अपनी समग्र शक्तिसे अपनेको इस भावुकतासे निवृत्त करनेकी चेष्टा कर रहा था, परन्तु मुझे पराजय ही मिल रही थी।

आज अनुमान करता हूँ, अवश्य ही यह परम मधुर-ध्वनि चिन्मय वीणाकी ही रही होगी, क्योंकि चिन्मय वीणाके स्वर मूर्त्त होकर स्वतः ही उच्चारित होते हैं। उनका चिन्मय निनाद ऐसा ही प्रभावोत्पादक होता है। इस चिन्मय नादसे शुष्क-से-शुष्क प्राणीमें भी रस-संचार हो जाता है। उसके अंगोंमें अष्ट सात्त्विक विकारोंके लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं।

यह चिन्मय ब्रह्मवीणा भगवान्‌के चरणोंमें अखण्ड निवास करती है। भगवान्‌के रसिक भक्तोंको जैसे मुरली अपने नादसे आकर्षित करती है, उसी प्रकार यह वीणा भी भक्तको भक्ति-समुद्रमें डुबा देनेमें समर्थ है।

इन पत्रोंमें मैंने आपको भगवान्‌के प्रायः सभी प्रमुख चरणचिह्नोंका वर्णन सुना दिया है। उपनिषदोंमें एक बहुत ही पवित्र उल्लेख है –

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न बहुना श्रुतेन, यमैवेष आत्मा वृणुते तेन लभ्यः'

अर्थात्, भगवान् न तो बहुत प्रवचन करनेसे प्राप्त होते हैं, न ही बहुत सुननेसे, वे तो उसीको प्राप्त होते हैं जो भगवान्‌को वरण करता है।

यहाँ वरण करनेका अर्थ यही समझना चाहिये कि भगवान्‌के नाम, रूप, लीला एवं धाममें अपने चित्तको एकतान-एकात्म कर देना। जैसे कोई भगवान्‌के नामको ही अपना जीवन बना ले। नाम-जपसे मृत्युपर्यन्त हटे ही नहीं। जिह्वागत वाणी नाम जपते-जपते ही मृत्युकालमें भगवन्नाममें लीन हो जाय। जो इस प्रकार भगवान्‌को अपने जीवनमें वरण कर लेगा, उसे निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायेगी।

आप तो परम सात्विक, समझदार, सच्चरित्र, सरल ब्राह्मण हैं। भगवान्‌के चरणोंको वरण कर लीजिये। चाहे भगवान्‌के चरणोंके आश्रयसे एक बार आपको प्रकट रूपमें दुःख, कष्ट, रोग, पीड़ा, अभाव ही मिलें, आपका सर्वत्र घोर अपमान एवं तिरस्कार हो, परन्तु आप भगवान्‌के चरणोंको ही अपनी सबसे बड़ी निधि मानकर, नाम-स्मरण करते हुए उनके आश्रयको ही अपना सबसे बड़ा संबल मानिये। फिर निश्चय ही ये जितनी भी ऊपर लिखी निधियाँ हैं, सभी आपके करतलगत हो जायेंगी। आपका जीवन निहाल हो जायेगा। अन्यथा तो ये सभी बातें आपको एवं मुझको कल्पना-प्रसून ही लगेंगी।

पुनः-पुनः एक ही बात दोहराता हूँ – खूब भगवन्नाम जपिये। भगवान्के नामाश्रयी साधकको भगवान्का नाम गुरु बनकर ऐसे अनेकों परम चिन्मय अनुभव कराता है, जो अभी हमारी कल्पनामें भी नहीं है।

जो भगवान्के नाम-जपको प्रमादवश त्यागता है वह अपने मनमें चाहे अपनेको महाज्ञानी समझता रहे, परन्तु सच्ची बात यही है कि उसका अनमोल मानव-जन्म व्यर्थ ही जा रहा है। वह बहुत ही अनमोल दामी वस्तुसे वंचित हो जाता है।

आपका

चक्रधर

।। श्रीराधा ।।

पत्र संख्या - तीन

भगवान्‌के अङ्ग-प्रत्यङ्गका ध्यान

पत्र-प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें, परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी, श्रीतारादत्तजी मिश्र

(माहेश्वरी-विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता)

स्थान :
श्री जयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी बाँकुड़ा स्थित कोठी, बाँकुड़ा, (बंगाल)

दिनांक :
१२ जनवरी १९३८

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी कापीकी प्रतिलिपिसे संग्रहीत

आलोक

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका आगमन बाँकुड़ा हुआ है। सायंकालीन सत्संग हो रहा है। श्रीहरिकृष्णदासजी, भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे भगवान्‌के श्रीअंगोंका ध्यान करानेका आग्रह करते हैं । तद्नुसार भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ध्यान कराते हैं। इसी सत्संगका यथाश्रुत, यथाग्रहीत वर्णन प. पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज द्वारा श्रीदेवदत्तजी मिश्र, अपने अग्रज भ्राताको पत्र द्वारा प्रेषित किया गया। श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवालाने कलकत्तेमें श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि की, जो उनकी मृत्युके उपरान्त श्रीशिवकिसनजी डागाने वृन्दावनमें अपने पास सुरक्षित रखी। उसी पत्र-संग्रहको यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

श्रीराधाकृष्णौ वन्दे

पूज्य श्रीदेवदत्त, तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम ! आपका पत्र मिला। आप दोनोंकी रुचि देखकर आज

आपको पत्रमें भगवान्‌के ध्यानकी बात लिख रहा हूँ। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार परम कृपालु स्वभावके सन्त हैं। मेरे जैसे अनेक अनधिकारियोंको भी वे बहुत कृपा करके ऐसे साधन-रहस्य समझाते रहते हैं कि मन मुग्ध हो जाता है। उनकी विवेचन-शैली बहुत ही सरल एवं सभीको समझमें आनेवाली होती है। गूढ़-से-गूढ़ तत्त्वकी बातोंको भी वे अति सरलतापूर्वक सबके हृदयमें उतार देते हैं। आज उन्होंने सत्संगमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप-ध्यान कराया था। उनका अति सजीव स्वरूप-चित्रण सुनकर मैं तो मुग्ध ही हो गया। रह-रहकर आपकी स्मृति आ रही थी। कहीं आप मेरे साथ ही बाँकुड़ा होते तो कैसा आनन्द होता।

परन्तु यह भी प्रभुका परम मंगलमय विधान ही है कि उन्होंने मुझे तो सब घर-बार, जमीन-जायदादके मोहसे मुक्त कर दिया एवं आपको इन सबमें उलझा दिया। परन्तु इसमें आपके निराश होनेकी बात सर्वथा ही मत समझियेगा। योग्य व्यक्तिसे प्रभु अपने जनोंकी सेवा कराते हैं और जो उद्दण्ड बालक सेवाके योग्य नहीं होता, उसे घरसे दूर किसी अन्य कार्यमें नियुक्त कर दिया जाता है। ऐसा ही प्रभुका खेल है। कठपुतलीको नचानेवाला किस कठपुतलीसे राजाका अभिनय करायेगा और किससे भिश्तीका, यह बिचारी कठपुतली क्या समझे ? नचानेवालेकी इच्छासे ही सभी कठपुतलियोंको नाचना पड़ता है।

हम सबको नचानेवाले महा-महामंगलमूर्ति परम दयामय भगवान् हैं। आकाशमें जैसे अवकाश ही अवकाश है, उसी प्रकार भगवान्‌में दया ही दया भरी है। वे मंगलके घन-स्वरूप हैं। जैसे बादलमें वाष्पके रूपमें जल ही जल भरा होता है, मिश्रीमें मिठास ही मिठास होती है, वैसे ही भगवान्‌में दया ही दया, करुणा ही करुणा, कृपा ही कृपा, मंगलमयता ही मंगलमयता भरी है।

भैया ! आपने सदा मेरेपर विश्वास किया है। बचपनकी शिशु अवस्थासे आजतक मैंने आपसे जो कुछ भी कहा, आपने उसे असत्य नहीं माना। आज भी आप मेरी इस बातको निश्चय ही परम विश्वस्त एवं सत्य मान लीजिये कि श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) को भगवान्‌के दर्शन हुए हैं। साथ ही इसे भी ठीक-ठीक, सत्य समझ लीजिये कि श्रीभाईजीको जिस कोटिके भगवद्दर्शन हुए है, उस कोटिके दर्शन बिरले भक्तोंको ही होते हैं। मैं भक्त ध्रुवको परम वन्दनीय एवं नित्य प्रणम्य मानता हूँ। परन्तु ध्रुवको दर्शन देकर एवं दर्शनका फल राज्य-भोग देकर भगवान् चले गये। श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) को भगवान् इस प्रेमभावसे मिले कि उनके नयनोंकी पुतरियोंमें ही बस गये। ये बातें कुछ तो मुझे अपने अनुभवसे ज्ञात हुई हैं और कुछ उनके भाव

एवं लक्षणोंसे ज्ञात हुई हैं। आज सत्संगमें भगवान्‌के ध्यानका वर्णन करते हुए भाईजीकी जो विलक्षण भाव-दशा मुझे देखनेको मिली, ऐसी भाव-दशा भगवद्दर्शन-प्राप्त व्यक्तिकी ही होनी संभव है, दूसरे यह भाव-दशा तभी हो सकती है, जब किसीके सम्मुख भगवान् प्रकट हों और उन्हें प्रत्यक्ष देखता हुआ, कोई उनके रूपका वर्णन कर रहा हो। अतः मेरी ऐसी सुदृढ़ मान्यता बनती जा रही है कि भाईजीके हृदयसे भगवान् एक पल भी हटते नहीं, वे उनकी नयनोंकी पुतरियोंमें ही सदाके लिये बस गये हैं। ऐसे भक्तोंके, जो-जो लक्षण शास्त्रोंमें लिखे हैं, उन सभीको मैंने भाईजीमें मिलान करके ही अपनी धारणा सुपुष्ट की है।

आज श्रीभाईजीने मुरलीमनोहर द्विभुज भगवान्‌का ध्यान कराया था। उनके बायें हाथमें लकुट है और दाहिने हाथमें मुरली है। भगवान्‌के हाथमें जो मुरली है, उसमें सप्तछिद्र हैं। मुरलीका प्रथम छिद्र तो भगवान्‌के अधरोंपर टिका रहता है। ऊपरके होठसे इस छिद्रको ढकते (चुम्बन लेते) हुए, भगवान् उसमें अपनी सम्पूर्ण प्राणोंकी शक्तिसे फूँक लगाते हैं। भगवान्‌के प्राणोंके रससे यह मुरली, जो भीतरसे पूरी खाली – पोल-युक्त है, भर जाती है। इस वंशीमें अपने प्राण तो हैं ही नहीं, यह तो भगवान्‌के प्राणोंसे ही प्राणान्वित है। यह भगवान्‌के हाथकी पूरी यंत्र है। भगवान् यंत्री हैं और इसमें अपना स्वर भरकर इसके द्वारा अपनी लीला सम्पादित करते हैं।

जैसी यह वेणु है, वैसा ही भगवान्‌का यंत्र, यह लकुट है। यह लकुट अचेतन प्रतीत होता है, परन्तु है यह पूर्ण चेतन भगवद्भक्त । भक्तोंने इस लकुटके लिये अति अनोखी भावनाएँ की हैं। किसीकी भावना है कि यह श्रीकृष्णका सबसे प्रिय सखा है। सुबल, श्रीदामादि सखा, जो भगवान्‌की मधुर लीलाके सहयोगी हैं और सखियोंके मध्य निकुंजलीलामें भी सम्मिलित रहते हैं – उनसे भी इस लकुटका पद अधिक है। यह भगवान् श्रीकृष्णके रासमण्डलमें भी उनके साथ रहता है, जबकि रासमण्डलमें किसी भी पुरुष सखाका प्रवेश असंभव है।

श्रीकृष्ण जहाँ भी अधरोंपर वंशी स्थापित किये हुए ललित-त्रिभंगी मुद्रामें खड़े होते हैं, लकुट उन्हें सहारा देता हुआ, उनके साथ ही रहता है। लकुटका सौन्दर्य भी श्रीकृष्णसे कम नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अपने मस्तकपर रत्नजटित मुकुट धारण करते हैं, ठीक वैसे ही यह लकुट भी अपने शिरोदेशमें अनमोल रत्नजटित स्वर्णका मुठिया धारण करता है। श्रीकृष्णके मस्तकपर जैसे मयूरपिच्छ सुशोभित रहता है, उसी तरह इसके भी मुठियापर मयूरपिच्छ

लहराता है। जैसे श्रीकृष्णका वर्ण श्याम है, लकुटका वर्ण भी श्रीकृष्णकी ही तरह नवीन मेघवर्ण है। श्रीकृष्ण जब ललित-त्रिभंगी वेषमें नटवर-रूप हुए, खड़े होते हैं, तो यह लकुट भी अपने तनसे टेढ़ी आकृति धारणकर उनके बगलमें ही विराजित होता है। भगवान् श्रीकृष्णके श्यामल अंगोंमें, जैसे पीताम्बर शोभा पाता है, वैसे ही लकुटके अंगोंमें भी पीले स्वर्णका पत्तर लगा होता है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि लकुटमें जो पत्तर लगा है एवं मुठियेमें जो रत्न जटित हैं, वे सभी न तो प्राकृत स्वर्ण ही हैं, न ही वे रत्न ही, लौकिक चमकदार पत्थर। इस धातुका वर्ण तो अवश्य ही तपाये सोनेका-सा है, परन्तु है यह सर्वथा अप्राकृत, चिन्मय धातु। यह स्वर्णसे भी असीम सुन्दर धातु है। यह लकुट दिखता मोटा एवं भारी है, परन्तु यह है, फूलसे भी ज्यादा सुकोमल। इसका बोझ यदि भगवान्को अनुभव हो जाय तो वह लीला-परिकर भक्त ही कहाँ रहा ? यह भगवान्से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यह भगवान्के अंगोंके समान भगवान्का अभिन्न पार्षद है, उनका अपना है। जैसे हाथ-पैर भारी होते हैं, परन्तु वे शरीरके भाग होनेसे शरीरको भारी नहीं लगते, इसी प्रकार यह लकुट भगवान्को सर्वथा भारी नहीं लगता।

वैसे कभी-कभी भगवान् वंशी भी स्वर्णकी धारण करते हैं। इस वंशीमें भी हीरों एवं मोतियोंके गुच्छ (लड़ें) लटके होते हैं। शास्त्रोंमें भगवान्की अनेक वंशियोंका वर्णन आता है। वंशी, वेणु, मुरली—ये सभी अनेक जातियाँ हैं। परन्तु इनमें जो मूल वंशी है, वह बदलती नहीं। वही एक वंशी यथासमय, यथावेष भिन्न-भिन्न रूप एवं शृंगार धारण करके भगवान्की सेवामें प्रस्तुत हो जाती है।

भगवान्के सभी आभूषणोंमें, जो चिन्मय स्वर्ण रहता है, वह जीवन्त धातु होनेसे उसमें एक विलक्षण प्रकाश होता है। विद्युत्के प्रकाशसे तो आँखें चौंधिया जाती हैं, परन्तु भगवान्के मुकुटसे, लकुटसे, वंशीसे, भगवान्के बाजूबन्द, कटि- करधनी, नूपुर आदि आभूषणोंसे, जो चिन्मय प्रकाश निस्सृत होता है, वह परम सौम्य, शीतल, सुखद, स्निग्ध एवं साथ ही परम मंगलकारी है। वंशीमें जो मुक्ता और रत्नोंकी लड़ें हैं, इनमें परम चिन्मय घण्टिकाएँ भी लगी हैं, ये मुक्ताके आकारकी अति लघु हैं, परन्तु बजनेमें इतनी सुरीली हैं कि वंशीके रवको अपने 'किन्-किन्' नादसे और चमत्कारी बना देती हैं।

भगवान्के बाहु परम सुकोमल, मोटी, श्यामल, कमल-नालके समान हैं। हथेली एवं हाथ, खिले हुए नील-कमलके सदृश हैं, जिसकी पंखुड़ियाँ भीतरसे परम सुन्दर गुलाबी रंगकी हों। भगवान्की हथेलियोंमें भी उनके चरण-चिह्नोंकी तरह स्पष्ट आकृतियोंके चिह्न हैं, जो स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। भगवान्के ऐसे

सुकोमल हाथोंको पीताभ मणियोंके परम सुन्दर कंकण समलंकृत कर रहे हैं। इन कंकणोंके दोनों ओर फूलोंके गजरे भी भगवान्के मणिबन्धोंको सुसज्जित करते हैं । भगवान्के कमल-जैसे परम सुकोमल हाथोंमें समलंकृत कंकणोंके ऊपर माणिबन्धोंको लपेटे पुष्पोंके गजरोंकी ऐसी शोभा है कि देखनेवालेकी पलकें ही गिरना बन्द हो जाती हैं। जो गजरे भगवान्के मणिबन्धोंको सुभूषित कर रहे हैं, उन फूलोंके गजरोंमें और पीत-रत्नके कंकणोंमें छबिकी तरंगोंके उठनेसे सौन्दर्यकी ऐसी स्पर्द्धा होती है, कि बस आँखें पलक झपकाना ही स्थगित कर देती है। यह स्पर्द्धा अकेली सुन्दरतामें ही नहीं होती। सुन्दरताके साथ सुकोमलता, प्रेम, कान्ति, सुगन्ध, कल्याण, एवं यशकी स्पर्द्धा भी देखते ही बनती है। कोई कहेगा, पुष्पोंकी सुकोमलताको कंकण कैसे पराजित कर पावेंगे एवं कंकणकी धातुमें, रत्नोंमें, सुगन्ध कहाँसे आवेगी, जो पुष्पोंके गजरोंको पराजित कर सके और प्रेम भला जड़-वस्तुओंमें कहाँसे पैदा हो जायेगा ? तो इसका उत्तर यही है कि भगवान्को सुख देनेके लिये, उन्हे शृंगारित करनेके भावसे भगवान्के लीला-परिकर ही तो कंगन बने हैं और वे लीला-परिकर ही फूलोंके गजरोंके रूपमें भगवान्को सुसज्जित कर रहे हैं, ये सभी आभूषण जड़ कदापि नहीं, पूर्ण चिन्मय हैं, अतएव भगवान्को सुख देनेकी उनमें होड़ होना स्वाभाविक ही है।

यही स्थिति भगवान्की बाहुओंमें विजड़ित बाजूबन्दोंकी भी है। बाल-लीलामें यशोदा मैया जब भगवान्का शृंगार करती हैं, तो नन्दमहलकी मालिनसे पुष्पोंके बाजूबन्द बनवाती हैं। वह वात्सल्यवती मालिन सभी आभूषणोंके नीचे सुकोमलतम कुवलयोंका पहले आधार देती है, इन चिन्मय कुवलयोंके ऊपर अलंकार एवं परम सुन्दर मुक्ता-माणिक, पुखराज-वज्रमणि आदि रत्नालंकार पिरोये जाते हैं। ये परम सुकोमल, चिन्मय कुवलय भगवान्के अंगोंको मात्र सुख-स्पर्श ही देते हैं।

भगवान्का कण्ठ शंखके समान सुडौल एवं सुन्दर है। अलंकारके रूपमें भगवान्के ऐश्वर्ययुक्त विग्रहोंके कण्ठमें तो वैजयन्तीमाला झूलती है, साथ ही वक्षस्थलको कौस्तुभमणि एवं श्रीवत्सचिह्न भी सुशोभित करते रहते हैं, परन्तु व्रजमें भगवान् श्रीकृष्ण मात्र वनमाला ही धारण करते हैं।

वनमें गाय चराने जाते समय व्रजलीलामें भगवान्का शृंगार मैया यशोदा करती है। खेलकूदमें जब शृंगार अस्त-व्यस्त हो जाता है, तब गोचारण करके लौटते समय भगवान्का शृंगार सखागण करते हैं।

यह शृंगार विलक्षण ही होता है। इस शृंगार-वेषमें श्रीकृष्ण जैसे फबते

हैं, वैसे कहीं नहीं फबते ।

वैसे श्रीकृष्णका मधुर-भावसे सखियाँ भी शृंगार करती हैं। यह उनका शृंगार सर्वसाधारणके दर्शनकी वस्तु नहीं होता। इस शृंगारकी शोभा तो श्रीराधारानी एवं सखियाँ ही देख पाती हैं। इस शृंगारसे भी परमोत्कृष्ट शृंगार भगवान्का रासके समय होता है। इस सर्वोत्कृष्ट शृंगारसे सजे श्रीकृष्ण साक्षात् मन्मथ-मन्मथ ही होते हैं। यह ऐसा मादक शृंगार होता है कि शिव-ब्रह्मादि देवगण तथा सनकादि ऋषियोंको भी इस शृंगारसे सजे श्रीकृष्णका दर्शन असंभव है। इस वेषमें सजे श्रीकृष्णका दर्शन तो महाभागा राधिकाजी एवं उनकी अन्तरंग सखियोंको ही संभव है।

इससे भी परमोच्च कोटिका भगवान्का एक शृंगार और भी होता है। यह शृंगार केवल श्रीराधारानी अपने निजहाथोंसे भगवान् श्रीकृष्णका करती हैं। और मात्र अकेली उनकी ही आँखें इस भगवान्के शृंगारको देखती हैं। स्वयं भगवान् भी इस शृंगारका प्रतिबिम्ब ही मात्र आरसीमें देख पाते हैं और अपने इस रूपको देखकर इतने चमत्कृत हो जाते हैं कि उनके मनमें अपने ही सौन्दर्यके आस्वादनकी कामना जाग उठती है। यह भगवान् श्रीकृष्णकी विशुद्ध सौन्दर्यास्वादन-कामना भगवती श्रीराधारानीका शृंगारकर, उनका रूप देखकर ही तृप्त होती है। श्रीराधारानी श्रीकृष्णके सौन्दर्यास्वादन-कामकी निवृत्तिके लिये ही सजती हैं। उनके सजनेमें स्वसुख अथवा स्वको सुन्दर दिखानेका लेशमात्र भी भाव नहीं रहता। इस शृंगारको अन्य सखियाँ भी देखनेके लिए तरसती हैं। वे कुंजके छिद्रोंमें झाँककर देखनेकी चेष्टा करती हैं, परन्तु वह उनके दृष्टि-पथका विषय नहीं बन पाता।

वनसे गोचारण करके जब भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें लौटनेको उत्सुक होते हैं, उस समय सखागण उन्हें छोटे-छोटे वनफलोंसे, द्रुम-वल्लरियोंके रंग-बिरंगे नव-पल्लव एवं मनोहारी पुष्प-गुच्छोंसे, विविध-विविध वर्णोंके चित्र-विचित्र कुसुमोंकी राशिसे, अभी-अभी झड़े हुए झलमलाते मयूर पिच्छोंसे, एवं गैरिक आदि रंगोंकी भाँति-भाँतिकी वन्य धातुओंसे सजाते हैं। जब इन वन-धातुओंसे अपने सखा श्रीकृष्णका सखागण अंग-अंग लेप देते हैं, तो उस समय उनकी ऐसी मनोहारी छबि निखरती है कि आकाशचारी विमानोंमें बैठी देवांगनाएं भी उसे देखकर मूर्च्छित हो जाती हैं।

सखागणोंके पास तो श्रीकृष्णको सजानेका शृंगार-द्रव्य मात्र वन-धातुएँ एवं वन-पुष्प ही होते हैं, वे अपने स्वयंका भी उन्हीं धातुओंसे शृंगार करते हैं। श्रीकृष्णके केशोंमें ये भिन्न-भिन्न रंगोंके पत्ते खौंस देते हैं। इस सब शृंगारसे

सजे श्रीकृष्ण जब व्रजमें गोचारणकर लौटते हैं, तो सभी व्रजरमणियाँ और व्रजवासी देखकर मुग्ध हो उठते हैं। मुक्ताहारोंको भी तिरस्कृत करनेवाली गुञ्जामाला और मणिहारोंको हतप्रभ कर देनेवाली नव-पल्लवोंकी माला पहने श्रीकृष्ण आबाल-वृद्ध, सबका चित्त चुरा लेते हैं।

भगवान्के होठ बिम्बफलके समान हैं। भगवान्की मुसकान सर्वोपरि मनोहारी है। मृदुहास तो भगवान्के मुखपर सदैव ही रहता है। वे जब सो जाते हैं, उस समय भी उनके लाल-लाल पल्लव-सदृश अधरोंमें मन्द-मुसकान छायी रहती है। क्रोधकी अवस्थामें भी उनका मुसकाना स्थगित नहीं होता। उनका मुसकाना तो उस समय भी ज्यों-का-त्यों ही रहा था जब व्याधने मृग मानकर जहरीले बाणसे उनके लाल-लाल कमलसे चरण बेध दिये थे और वे स्वधामगमनको प्रस्तुत हुए अपने महाप्रयाणकी भूमिकाकी सूचना अपने सारथी दारुकको दे रहे थे।

यह एक विलक्षण बात ही है कि भगवान् श्रीकृष्णने पूतना-तृणावर्त्त, बकासुर-अघासुर, व्योमासुर आदि सभी असुरोंका वध किया, किन्तु इस संहार-लीलामें भी उनकी मुसकान उनके अधरोंसे नहीं हटी। कंसको मारते समय भी भगवान् हँस रहे थे।

भगवान्की दंत-पंक्तियाँ शुभ्र, स्वच्छ एवं श्वेतवर्णकी हैं। यह धवल-श्वेतता है। इस धवल-श्वेततामेंसे शुभ्र, मन्द प्रकाश निकलता रहता है। यह प्रकाश हजारों राका-शशियोंके समान शीतल एवं सुखद है। भगवान्के होठोंकी लालिमा इस धवलिमासे जब मिलती है, तो विलक्षण शोभाका अभ्युदय होता है। फिर इसमें भगवान्की मंद, मुसकान जीवनसत्ताका सृजन कर देती है। इसके साथ ही भगवान्के मुखसे, दाँतोंसे ऐसी मनोमुग्धकारी सुवास प्रसरित होती है कि लेखनी उसका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाती है।

भगवान्की नाकमें बुलाक रहती है। भगवान्के नेत्र, नासा, मस्तक, कान सभी मुखकी शोभाको सहस्रगुनी बढ़ानेवाले ही हैं। भगवान्का मुख ऊपरकी ओर तनिक-सा लम्बित है और शेष भाग गोल है। वह माधुर्य एवं लावण्यका अपरिसीम सागर है। भगवान्के समग्र आननसे कान्तिकी किरणें फूटती हैं, वे मरकतमणिको तुच्छ कर देती हैं। गरुड़की चौंचके समान नासिका, अग्रभागसे किंचित् मुड़ी हुई है। भगवान्की लम्बी घुँघराली अलकें हैं, जिनसे विविध प्रकारका सुवास प्रसरित होता है।

विलक्षण बात यह है कि भगवान्की प्रत्येक अलकावलिसे पृथक्-पृथक् गंधका प्रवाह झरता है। ये सभी सुंगधियाँ एक-से-एक बढ़कर मनोहारी हैं।

फिर इनका सम्मिलित सुगन्धमय स्वरूप तो और भी विलक्षण मनोमुग्धकारी हो उठता है। सत्य बात यही है कि मनकी शक्ति ही नहीं रहती, उस सब सौन्दर्य, माधुर्य, सुगन्ध एवं सुरूपताका आस्वादन कर सके, वह मूर्च्छित हो जाता है।

भगवान्‌के केशपाश भिन्न-भिन्न वर्णके सुन्दर पुष्प-गुच्छोंसे सुगुम्फित हैं। पुष्पमालाओंसे गुँथी भगवान्‌की चूड़ा (चोटी) तो और भी अतिशय मनोमोहक है। भगवान्‌के मुखारविन्दका वर्ण ही सुधाके समान शीतल, सरस, मादक, एवं प्राणोंको आप्यायित करनेवाला है। वह अतिशय लावण्य एवं मधुरतासे भरा है। उससे कल्याण एवं कृपाकी वर्षा निरन्तर ही होती रहती है। क्षणके करोड़वें हिस्सेके लिए भी यह कृपा एवं परम मंगलमयी कल्याण-वर्षा न तो थमती है, न ही न्यूनाधिक ही होती है। भगवान्‌का आनन, नवमेघके समान है, यह कल्याणमयी प्रीतिवर्षा एकरस, अनवरत करता ही रहता है।

ऐसे भगवान्‌के आनन-सरोजके ऊपर भगवान्‌का ललाट है। यह ललाट सदा चन्दन एवं कुंकुम-केसरकी खौरसे समलंकृत रहता है। इसके मध्यमें वल्लभ-सम्प्रदायवालोंकी तरह गोराचनका तिलक शोभा पाता है। उस तिलकके दोनों ओर अतिशय शोभामयी अलकावली झूलती रहती है। उनकी भौंहें परम लीलायुक्त हैं। भगवान् अपनी भौंहोंको ऐसी मनोहर भंगिमासे नचाते हैं कि उनसे समग्र नवों रस एक साथ प्रवाहित हो उठते हैं। भगवान्‌की भौंहोंका नर्त्तन देखकर यशोदामैयामें वात्सल्यरसकी ऐसी ऊँची लहरें उठती है कि उनके स्तनोंसे दुग्धधारा झर-झर बहने लगती है। इन भौंहोंके इशारेसे सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, काल, सम्पूर्ण देव-दनुज, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, योगी, ऋषि, मुनि, गन्धर्व-चारण, नाग-अप्सराएँ, यहाँतक कि यमराजतक काँप जाते हैं। ये सभी पूर्ण अनुशासनपूर्वक अपना सम्पूर्ण कार्य सम्पादित करते हैं। इन्हीं भौहोंके संचालनसे कामिनियोंमें प्रेमकी ऐसी लहर उठती है कि ये अपना सम्पूर्ण चित्त-वित्त भगवान्‌पर न्यौछावर कर देती हैं। ये भौंहें भक्तोंको संकेत मात्रसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षका दान दे डालती हैं। योगीजन इन भौहोंके दर्शनकर परम शान्तचित्त हो जाते हैं। भगवान्‌की भौहोंके दर्शनमात्रसे योगीगण असम्प्रज्ञात समाधिमें डूब जाते हैं। जो भक्त-भगवान्‌की इन सुन्दर भौंहोंका ध्यान भर करते हैं, उनके कामादि दोष सदा-सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं।

भगवान्‌की भौहोंसे अभिरक्षित भगवान्‌के परम सुन्दर बड़े-बड़े अति कमनीय नेत्र हैं। ये प्रेम, दया, मंगलमयता, कृपा-वर्षामें इतने निरत हैं कि भक्तोंपर इन सब भावोंकी वर्षा करते हुए अघाते ही नहीं हैं। परम कमनीय भगवान्‌के नेत्र मध्यमें नीलकमलों और प्रान्तोंमें लालकमलोंकी छटा धारण किये

रहते हैं। गरुड़की चौंचके जैसी नुकीली नासिका के अग्रभागमें भगवान्का बेसर (बुलाक) नामक आभूषण रहता है। इसमें परम निर्मल मुक्ताफल लटकता रहता है। इस मुक्ताफलसे चन्द्रमाकी शीतल शुभ्र-ज्योत्स्नाके समान ज्योति बिखरती रहती है, जो उनके अधरोंकी गुलाबी आभाको और भी प्रद्योतित कर देती है। इससे भगवान्के अधर बहुत ही सुन्दर लगते हैं। उनकी शोभा अनन्तगुनी बढ़ जाती है। भगवती राधारानीकी बुलाकमें नीलमणि रहती है, एवं श्रीकृष्णकी बुलाकमें पीताभा-लिये मुक्ता।

भगवान्के दोनों कान स्वभावसे ही परम मनोहर हैं। वे विविध मणिजटित मकराकृति कुण्डलोंसे और भी भले लगते हैं। उनका प्रतिबिम्ब दर्पण-सदृश कपोलोंपर पड़ता रहता है। इन कुण्डलोंकी दमकसे कपोल रह-रहकर चमक उठते हैं। लावण्ययुक्त मुखारविन्द कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेरता रहता है। भगवान्की ठोड़ी विविध हास्यरसकी छटासे अत्यंत मधुर एवं प्रकाशयुक्त प्रतीत होती है। भगवान्के कण्ठमें असीम लावण्य भरा है। त्रिभंगी-मुद्रामें वे त्रिलोकीको मोहित करते रहते हैं। उनकी ग्रीवाकी मरोड़ अत्यंत मधुर तथा आकर्षक है। विशाल वक्षस्थल, तो मानो लावण्यका घर ही है। भगवान्के कपोलोंपर अनेक विलक्षण आभाएँ पड़ती हैं। इन चतुर्दिक् पड़ती आभाओंसे वे विलक्षण रूपमें सदा दमदमाते रहते हैं। कपोलोंमें स्वाभाविक ही अपना गुलाबीपना तो है ही, इस गुलाबीपनको दोनों ओरसे कुण्डलोंकी दमक प्रद्योतित करती रहती है। फिर बिथुरी अलकावलि भी वायुके झौंकोंसे इन्हें अपने घनश्याम वर्णसे रंजित करती है। सिरपरसे मुकुटकी दमक और ठोड़ीपर विजड़ित वज्रमणिकी चमकसे, ये चारों ओरसे घिरकर चमचमाते विलक्षण आभा छिटकाते हैं।

भगवान्के नेत्र इतने कटीले हैं कि इनके सौन्दर्यकी तो उपमा कहीं हो ही नहीं सकती। भगवान्का सर्वाधिक सुन्दर अंग नेत्रोंके नीचेका मुख-भाग है।

भगवान्का मस्तक उन्नत है। उसके ऊपर रत्नजटित मुकुट है और उस पर मोरपंख विजड़ित है।

भगवान्के हाथोंमें भी चिन्मय चिह्न उभरे हैं। गदा, शंख, यव, छत्र अर्द्धचन्द्र अंकुश, ध्वजा, कमल, यूप, हल, कलश एवं मत्स्य – ये चिह्न भगवान्के कर-कमलोंमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

भगवान्का जैसा उदार हृदय है, वैसा ही उनका वक्षस्थल विशाल है। भगवान्के हृदयमें पापी-तापी, अपराधी सभीके लिये पूरी गुंजाइश है। क्रूर से क्रूर पातकी भी भगवान्से क्षमा प्राप्त कर सकता है – यदि वह भगवान्की शरण

ग्रहण कर ले और पुनः पातक नहीं करे। भगवान्‌का हृदय इतना अधिक निर्मल, करुण, अदोषदर्शी, क्षमाशील एवं उदार है कि हृदयहीनोंको भी संपर्कमें आनेपर सहृदय बना देता है। भृगुजीका प्रसंग इसका परिचायक है। भगवान् भृगुलताको इसीलिए धारण करते हैं कि सभीको शिक्षा मिले कि अपराधीके प्रति ऐसा ही निर्मल भाव रखना चाहिये। इसीलिए भगवान्‌के सभी अवतारोंमें भृगुलताका चिह्न अवश्य ही रहता है।

भगवान् शत्रुभाव रखनेवालोंको भी अपार स्नेहराशि ही प्रदान करते हैं। आजतक जितने भी भगवान्‌के शत्रु हुए, भगवान्‌ने सभीको मुक्त कर दिया। वास्तवमें तो भगवान्‌के वात्सल्यके एक कणकी छायाको लेकर ही प्राकृत जगत्‌की सभी माताएँ अपने शिशुओंको स्नेहसे आप्यायित कर रही हैं। भगवान् किसीके गुणों, उसके रूप, एवं उत्तम शीलपर उतने नहीं रीझते हैं, जितने निर्बल होकर दीनताभरी पुकारपर रीझते हैं। कोई मनसे भी यदि भगवान्‌की शरण हो जाए, तो भी भगवान् उसे पूरा शरणागत मानकर उसके वशीभूत हो जाते हैं। भगवान् सदा वर्तमानका ही भाव देखते हैं, पहले का किया दुराचरण उनकी दृष्टिमें चढ़ता ही नहीं। आमिषभोजी गृघ्रको भी भगवान् उसी भावसे अंजलि भरकर तर्पण दान करते हैं, जिस भावसे मानों कोई अपने पिताको तर्पण दे रहा हो। मर्यादा-पुरुषोत्तम होते हुए भी भगवान् निषाद्‌को गले लगाते हैं एवं शबरीके जूठे बेर खाते हैं। भगवान्‌के हृदयकी कोमलताकी छाप सन्तोंके स्वभावमें अवश्य मिलती है। सन्तोंके हृदयको इसीलिए नवनीतकी उपमा दी जाती है। भगवान्‌के अवतारकी हेतु, मात्र उनकी दया है। भक्तके दुःखको देखकर भगवान् अपने आपको रोक नहीं पाते। गजेन्द्रके आख्यानमें इसका बहुत ही अच्छा दिग्दर्शन है।

भगवान्‌के सम्मुख जैसे ही जीव होता है, भगवान् उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्टकरके उसका उद्धार कर देते हैं।

सनमुख होहिं जीव मोहि जबहीं जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ।

केलेके स्तम्भकी परत उतारनेपर जैसा चिकना और कोमल भाग प्रकट होता है, वैसी ही सुकोमल भगवान्‌की जंघा है। भगवान्‌की कटि सिंहकी-सी क्षीण होती है। भगवान्‌के कमरके ऊपर कमरबंध नामक आभूषण है। इसे मारवाड़ी भाषामें 'तागड़ी' कहते हैं एवं संस्कृतमें 'कटिबन्धभूषण' कहा जाता है। यह आभूषण भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। श्रीकृष्ण अवतारमें भी इस आभूषणके अनेक प्रकार देखनेमें आते हैं। द्वारिका एवं

मथुरालीलामें यह भिन्न आकृतिका एवं व्रजलीलामें भिन्न आकृतिका होता है।

व्रजलीलामें जबतक श्रीकृष्ण स्तन्यपायी होते हैं, तबतक तो यह कटि-किंकिणीके रूपमें उदरके नीचे बँधा रहता है। यह कटि-आभूषण, स्वर्णका बना होनेपर भी अत्यंत हलका होता है। भगवान्‌को इसका भार सर्वथा अनुभव नहीं होता। करधनीके मध्यमें लड़ें लगी होती हैं और इन लड़ोंमें एक-एक क्षुद्र घंटिका चारों ओर लगी रहती है, जो बहुत ही मधुर 'टिन-टिन' ध्वनिमें बजती है। घुँघुरूकी तरह ये गोल आकृतिकी एवं बन्दमुखवाली नहीं होतीं। ये लघु घंटिकाकी तरह ही होती हैं। इन घंटिकाओंकी टकराहट कटिबन्ध-आभूषणकी लड़ोंसे होती है और ये विलक्षण मधुर-स्वरका सृजन कर उठती हैं। गोपियाँ दूरसे इन घंटिकाओंकी मधुर-ध्वनि सुनकर भगवान्‌के आगमनको जान लेती हैं।

भगवान्‌के उदरमें तीन रेखाएँ हैं, जो एक प्रकारसे त्रिदेवों किंवा त्रिगुणोंका रूप हैं। भगवान्‌की नाभिको कमलकी उपमा दी जाती है। भगवान्‌की नाभिमें समग्र सृष्टिको उत्पन्न करनेका बीज निहित है। श्रीब्रह्माजी समग्र ज्ञान (वेद) और समग्र सृष्टिको समेटकर भगवान्‌की नाभिमें लीन हुए रहते हैं। जब भगवान्‌का सृष्टिको उत्पन्न करनेका संकल्प होता है, तो इस नाभिसे ब्रह्माजी प्रकट हो जाते हैं। यही नाभिका परम आध्यात्मिक रहस्य है।

यह ध्यान, श्रीभाईजीने आजके सत्संगमें कराया था। इसे यथाश्रुत-यथास्मृति मैंने अपनी भाषामें आपको लिख दिया है। प्रवचन करते-करते बीच-बीचमें श्रीभाईजी ध्यानस्थ हो जाया करते थे। फिर कुछ काल पश्चात् प्रकृतिस्थ होनेपर वे बोला करते थे। सत्संगके बादमें मेरी जब उनसे वार्त्ता हुई, तो वे कह रहे थे – "स्वामीजी ! भगवान्‌के ध्यानकी बात जब भी कहता हूँ, बस, भगवान्‌की स्मृति प्रबल होते ही मनकी ऐसी दशा हो जाती है और रोकनेकी बहुत चेष्टा करनेपर भी बाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाता है।"

मैंने उनसे पूछा – "आप-जैसी सबकी दशा हो, इसका उपाय क्या है ?" उन्होंने यही उत्तर दिया – "सर्वत्र, सबमें भगवान्‌को भरा हुआ देखना, निरन्तर जिह्वाद्वारा नाम-जप करना, साथ ही भगवान्‌की अमोघ कृपापर विश्वास करना। ये तीन साधन बन जायें तो भगवान् प्रकट हो जाते हैं।, भगवान्‌के प्रकट होनेपर जगत् रह नहीं सकता। यह अमोघ नियम है – जबतक जगत् है, भगवान्‌की मात्र कल्पना है, वे हैं नहीं ! वे ज्यों ही प्रकट होते हैं, जगत् रह नहीं सकता। भगवान् सूर्य हैं और जगत् रजनी है। दोनों एक साथ रह नहीं सकते।"

भाईजीकी बातें सुनकर मुझे बहुत ही परिताप हुआ। भगवान्‌ने जब

अपनेसे मिलानेका इतना सुगम रास्ता दिखा दिया और ऐसे भगवत्प्राप्त सन्तोंसे मेल-मिलाप, आत्मीयता पैदा कर दी, फिर इस अनमोल भगवन्नामको प्रमादवश भूलकर हम अपनी आत्महत्या ही तो कर रहे हैं।

भैया ! आप तो मुझे यही आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपना समग्र जीवन भगवन्नाम-जपमें ही लगा दूँ। निश्चय मानिये, इससे अधिक दामी वस्तु संसारमें और कुछ भी नहीं है।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - चार

भगवान्‌का वर्ण

पत्र-प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(भविष्यमें - प. पू. श्रीराधाबाबाके नामसे सर्वविख्यात)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, माहेश्वरी विद्यालय

बड़ा बाजार, कलकत्ता (बंगाल)

स्थान :
श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी
बाँकुड़ा-स्थित कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)
दिनांक :
२५ जनवरी १९३८ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-
संग्रहकी कापीसे प्रतिलिपि किये
हुए संग्रहसे संग्रहीत ।

आलोक

श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास फर्मकी कोठीमें सायंकालीन सत्संग हो रहा है। श्रीमद्भगवद्गीताकी तत्त्व-विवेचनी टीका लिखी जा रही है। उसी कार्यके लिये भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार बाँकुड़ा आये हैं। सत्संगमें श्रीरामसुखदासजी महाराज, श्रीघनश्यामदासजी जालान आदि सज्जनोंके अतिरिक्त बाँकुड़ाके अन्य अनेक मारवाड़ी एवं बंगाली समुदायके व्यापारी भी बैठे हैं। श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे प्रश्न करते हैं कि भगवान्‌का वर्ण कौनसा है ? भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार विनम्रतापूर्वक श्रीसेठजीसे ही इसपर प्रकाश डालनेका आग्रह करते हैं। परन्तु श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका ''आज तो हनुमान तू ही कह; म्हे सभी सुणस्याँ'' – मारवाड़ी भाषामें यह कहकर श्रीभाईजीसे ही प्रवचन करनेको कहते हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अति संकोचपूर्वक प्रवचन प्रारंभ करते हैं।

यह पत्र इसी प्रवचनका यथाश्रुत-यथाग्रहीत रूप है। इस प्रवचनका सार, श्रीस्वामीजीने अपने ताऊके पुत्र अग्रज-भ्राताको लिखकर भेजा है।

श्रीराधाकृष्णौ वन्दे

पू. देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम ! आपका पत्र मिला । आपको भगवान्के चरण-चिह्नोंपर लिखे मेरे पत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण अनुभव हुए एवं आप उन चार-पाँच पत्रोंको प्रतिदिन नियमपूर्वक पढ़ते हैं, यह जानकर बहुत ही हर्ष हुआ। आपको इस पत्र-पाठनसे निश्चय ही बहुत लाभ होना चाहिये, क्योंकि यह सारा वर्णन किसी महासिद्ध सन्त द्वारा सुनाया गया अनुभूत तथ्य है।

आज सायंकाल श्रीभाईजीने सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके छोटे भाई, श्रीहरिकृष्णदासजीके प्रश्नपर भगवान्के वर्णका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया था। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सार आपको लिख दे रहा हूँ। ये सभी सत्संग बहुत ही अनमोल एवं अलौकिक हो रहे हैं। सचमुच ही भगवत्कृपाकी अथाह एवं असीम वर्षा हो रही है।

भगवान्का वर्ण कैसा है – इसका वर्णन नहीं हो सकता। जब भगवान्के श्रीविग्रहमें जड़ पदार्थका लेश नहीं है, तो प्राकृतिक रंग-रूपका उनमें होना सर्वथा असंभव है। वैसे, शास्त्रोंमें भगवान्का रूप नीलकान्तमणि, अतसीकुसुम तथा नवघन मेघके समान वर्णित है; परन्तु ये सभी उपमायें यथार्थमें तो पूरी हो ही नहीं सकती, अंशतः भी पूरी नहीं हैं।

मूलतः श्रीकृष्णका वर्ण नील है, और उसमें श्यामताकी आभा घनीभूत है, भगवान् नारायणका वर्ण नील है, परन्तु उसमें नीलता घनीभूत है। भगवान् रामका वर्ण नील है, परन्तु उसमें घन हरित् आभा भरी है। उनका वर्ण मयूरकण्ठी है, परन्तु ये सभी बातें शास्त्रोंने साधकोंकी ध्यान-धारणाके लिये ही वर्णन की हैं, साधकके हृदयमें जब भगवान् प्रकट होते हैं, तभी वह भगवान्के असली स्वरूपको जान पाता है। उस समय वह भी इन्हीं शब्दावलियोंमें अपना अनुभव भले ही कहे, परन्तु वह ठीक समझ जाता है कि भगवान्के अंगोंके वर्णको शब्द दिया ही नहीं जा सकता। भगवान्का वर्ण सत्यांशमें अनन्त सौन्दर्यके सारका भी सार है।

भगवान्का वर्ण मात्र लगता है – नीलघन श्यामतेजयुक्त परन्तु इस नीलघन श्यामतेज सौन्दर्यके सारके सारमें निरन्तर स्वयंभूत सुगन्धिका प्रवाह भी बहता रहता है। इस श्यामलतेजकी सुगन्धिके प्रवाहकी यदि कहीं किसीको जरा-सी भी झाँकी मिल जाय, तो चाहे वह बड़े-से-बड़ा ब्रह्मज्ञानी, इन्द्रिय-निग्रही मुनि हो, तुरन्त ही वह उसमें अभिभूत हुआ मुग्ध हो ही जायेगा।

प्रकृतिमें कुल वर्ण सात हैं। परन्तु भगवान्के अप्राकृत लोकमें अनन्तवर्ण

हैं। ये वर्ण परस्पर संयोगोंसे नहीं बने हैं। ये स्वप्रकाश सभी पूर्ण स्वतंत्र तत्त्व हैं। भगवान्के विग्रहका वर्ण भी स्वयं स्वप्रकाश, पूर्ण स्वतंत्र, अपने-आपमें अलौकिक है। यह न नीला है, न श्याम है, न हरित् है। क्योंकि नील, श्याम, हरित् आदि शब्दावली तो लौकिक वर्णोंको ही प्रकाशित करती है, भगवान्के चिन्मय अलौकिक वर्णको, ये लौकिक वर्णोंके अर्थको व्यंजित करनेवाले शब्द स्पर्श भी नहीं कर पाते। यही कहा जा सकता है कि भगवान्का वर्ण भी स्वयं भगवान् है, अतः वह भगवद्वर्ण है, वह न नील है, न श्याम एवं न ही हरित् । हाँ, वह भगवद्वर्ण अतीव सुन्दर है। इस सुन्दरातिसुन्दर वर्णमें अनेक अन्य और वर्ण भी मिलते रहते हैं। जैसे उदाहरणस्वरूप भगवान्के श्रीविग्रहमें तीन कोटि रोम हैं। इन प्रत्येक रोमका सबका अपना-अपना स्वयंका स्वतंत्र, सर्वनिरपेक्ष पृथक् वर्ण है। इन तीन करोड़ रोमोंके वर्णोंकी शोभा-धारा प्रवाहित होती, भगवान्के वर्णमें मिलती रहती है। इस प्रकार, अनन्त रोमोंके अनन्त वर्णोंकी छबिसे भगवान्के विग्रहका वर्ण, न नील रह जाता है, न ही किसी निश्चित वर्णका। बस, कोई प्रत्यक्षदर्शी हो, तो यही कह सकता है कि भगवान्में अनन्त छबिकी झकोरें उठ रही हैं। उन्हें किसी इदमित्थं एक वर्णका कहा ही नहीं जा सकता।

भगवान्का सौन्दर्य प्राकृत सौन्दर्यके समान नहीं होनेसे नित्य नूतन छबिवाला है। अतः वे घनश्याम वर्ण होते हुए भी क्षण-क्षण नवनवायमान वर्णके प्रतीत होते हैं।

भगवान्का मुख

अब विचार करें, भगवान्का मुख कैसा है ? किसी साधक भक्तने कहा - *'अतसी कुसुम तन, चंचल दीरघ नयन''।* अब अतसीकुसुमका वर्ण भगवान्के कमल-मुखपर ठहर कहाँ पाता है ? भगवान्की अलकावलियोंको चाहे कितनी कसकर चूड़ामें बाँधी जावें, वे सभी अलकें इतनी स्वच्छन्द एवं चंचल हैं कि ललाटपर, कपोलोंपर मँडराना, वे अपना पूर्ण अधिकार समझती हैं। वे अपने परमातिपरम सुन्दर घन-कृष्णवर्णसहित ललाटपर, कपोलोंपर मँडराये बिना रह ही नहीं सकतीं। वे इन सब अंगोपर विहरना अपना अधिकार समझती हैं। बस, इन घन-कृष्ण अलकावलिके वर्णसे भगवान्के अंगोंका स्वाभाविकवर्ण तत्क्षण ही घुल-मिल जाता है। अब कोई जिज्ञासा करेगा कि इन अलकोंका कौनसा वर्ण है ? शास्त्र तो कहते हैं कि भगवान्की घन-कृष्ण कुंतलराशि है। परन्तु, अरे भाई ! इन केशोंमें वृन्दावनके असंख्य रंगोंके पुष्प-गुच्छ गुँथे रहते हैं। वे अपने रंगोंके सम्मिश्रणसे इन अलकोंको किस-किस वर्णकी आभायें दे-देकर अनुरंजित करते हैं, इन्हें पहचानना, समझना शास्त्रोंके वशकी बात कहाँ है ? यह तो

वृन्दावनके पुष्पोंकी बात रही, अब श्रीकृष्णके केश उनके सखाओंको धन-कृष्ण भले ही दिखें, सखियोंको तो वे कंचनवर्णके दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें तो अपने प्राणप्यारेके केशोंमें श्रीकिशोरीरानीका नित्य-वास समझमें जो आता है। अपना-अपना भाव है। जहाँ सखियोंको अपने प्राणप्यारे श्यामसुन्दर के केशोंमें राधारानीके दर्शन होते हैं, वहीं सखाओंकी और ही विलक्षण दृष्टि है। सखा कहते हैं – "हमारे प्यारे सखाका एक रोम भी, उसका रोम नहीं है, वह स्वयं ही है। तत्त्वतः सखाओंकी बात पूरी सांगोपांग है। भगवान्‌का चाहे कोई अल्प-से-अल्प अंग हो, वह मात्र एक लघु अंग नहीं है, स्वयं अंगीरूपमें भगवान् ही हैं। सखा कहते हैं कि हमारे श्रीकृष्णका एक रोम भी साक्षात् स्वयं श्रीकृष्ण है। सखागण मैया द्वारा श्रीकृष्णकी कसकर गूँथी हुई चूड़ाको देखकर ऐसा ही अनुभव करते हैं, मानो मैया द्वारा दामोदरलीला सम्पन्न की गयी हो। श्रीकृष्णकी अलकावलि सखाओंको स्वयं श्रीकृष्ण ही अनुभूत होती है। बस, वे सखा, वनमें ज्यों ही अपने कन्नू भैयाको निज अधिकार क्षेत्रमें पाते हैं, वे उन अलकावलियोंको मैया द्वारा प्रदत्त चूड़ा-बन्धनसे पूर्णतया उन्मुक्त कर देते हैं।

यह परम सुकोमल, मूर्तिमान् सुगन्धिसे सनी केशराशि अपनी अनन्त लावण्यमयी आभासे उन सखाओंके प्राणप्रतिम कन्नू भैयाके मुखमण्डलको कैसी दमकाती है – इसे मात्र देखनेवाला ही जान सकता है। वह शोभा देखकर देखनेवालेकी वाणी गूँगी हो जाती है। नेत्र अपलक स्थिर हो जाते हैं। मन, बुद्धि एवं अहंता उस छबि-समुद्रकी उच्छलित लहरोंमें डूबकर आप्यायित निमग्न हो जाते हैं।

कोई कह सकता है कि यह केशराशि घन-कृष्णाभासे ही तो मुखमण्डलको दमकायेगी ? नहीं, नहीं, यह बात नहीं है। यह परम सुन्दर केशराशि वृन्दावनमें स्थित सभी पक्षियोंकी उत्पत्ति-भूमि है। भगवान् श्रीकृष्णकी केशराशिसे ही सारे नर-मयूर, नर-हंस, नर-कपोत, नर-शुक, नर-तमचोर आदि असंख्य जातियों एवं वर्णोंके पक्षीगण अभिव्यक्त होते हैं। वृदावनको नित्य निरन्तर मुखरित रखनेवाले असंख्य एवं अनन्त प्रकारके रंग-बिरंगे भृंग भी इन्हीं अलकावलियों से उत्पन्न होते हैं। इसका प्रमाण यही है कि ज्योंही प्रियतम श्रीकृष्ण निद्राभावमें डूबते हैं, ये सभी पक्षीगण, भृंगादि, इन अलकावलियोंमें अपनेको लय कर लेते हैं। उस समय समग्र वृन्दावनमें इन पक्षियों एवं भृगोंका कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं ढूँढ़ पाता। और जैसे ही श्रीकृष्ण निद्राभाव त्यागते हैं, समग्र वृन्दावन इन पक्षियोंकी काकली एवं इन भृंगोंके गुन्जारसे मुखरित होने लगता है।

इसीलिए, यदि कोई ध्यानपूर्वक देखे, तो श्रीकृष्णकी एक-एक अलक कृष्णवर्ण नहीं, निरुपम वर्णोंसे युक्त है और पृथक्-पृथक् शोभाका प्रकाश कर

रही है। हाँ, सभीको मिलाकर यदि दूरसे देखा जायेगा, तो वे घन-कृष्णवर्णकी ही दीखेंगी।

उदाहरणरूपमें इस तथ्यको सूर्यकी किरणोंसे और अच्छी प्रकारसे समझ लें। सूर्यकी किरणें भिन्न-भिन्न सात वर्णोंवाली हैं। इन्द्रधनुषको देखनेसे ये सात वर्ण जलकी बूँदोंमें आकाशमें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाते हैं, परन्तु सर्वसाधारण-को सूर्यकी किरणें स्वच्छ, शुभ्र ही दीखती है। इसी प्रकार ये अलकें ध्यानसे देखनेपर ही अनेक वर्णोंसे युक्त दीखेंगी, वैसे कृष्ण-वर्णकी ही दिखाई पड़ेंगी।

फिर ये अलकें भी, क्योंकि पूर्णरूपेण श्रीकृष्ण ही हैं, अतः इनका वर्ण भी इदमित्थं नहीं है। ये प्रतिक्षण नव-नवायमान सौन्दर्यसे भरी होती है। भिन्न-भिन्न वर्णकी असंख्य अलकावलियाँ परमातिपरम शोभा प्रसार करतीं नितनूतन-वर्णमयी छबिकी प्रियतम श्रीकृष्णके मुखमण्डलपर ऐसी घनघोर वर्षा करती हैं, कि उस छबिको कोई भी कवि वाणी नहीं दे सकता। बस, उस सौन्दर्य-समुद्रके उच्छलनको, जो भी भाग्यवान् निरख पाता है, उसमें पूरा डूब ही जाता है। सार-संक्षेप यही कहा जा सकता है कि क्षणका मात्र करोड़वा हिस्सा ही एक अलकावलिके भागमें आता है। बस तभी, दूसरी अलक अपनी नव-नवायमान छबिसे प्रद्योतित हो उठती है और तब तीसरी, और तत्क्षण ही चौथी, फिर पाँचवी, छठी, सातवीं, सभी एक-से-एक अभिनव सुन्दर वर्णवाली अलकें अपनी शोभा वर्षा करती अघाती नहीं। अब, कैसे कहा जा सकता है कि श्रीकृष्णका मुखमण्डल मात्र नवघन श्यामवर्णका ही है ?

इन्हीं सबके मध्य भगवान्‌का मयूर-पिच्छ भी अपनी रंग-बिरंगी शोभाका प्रसार करता है। इस मयूर-पिच्छको भगवान्‌के मुखमण्डलको दमकानेका सौभाग्य मिले, इसके पूर्व ही भगवान्‌के इस मुकुटके स्वर्णाधारसे ऐसी विलक्षण छबि तरंगायित होती है कि उसके पीत सौन्दर्य-झकोरसे मुखमण्डल सुमेरु-शिखरके समान दमक उठता है। इस शोभाको द्रष्टाका मानस अनुभव करे, उसके पूर्व तो भगवान्‌के ललाटके ठीक मध्यमें सुशोभित तिलक अपनी निराली ही वर्ण-छबिका प्रकाश कर जाता है। यह तिलक गोरोचनका, कुंकुमका, कस्तूरीका, अनेक वर्णवाला होता है। वास्तवमें तो यह भगवती श्रीराधाके चरणोंका प्रतीक है। इसमें राधारानीके चरणोंकी सारी शोभा निहित है। अतः यह सर्व-शोभाधाम है। कभी लगता है, यह तिलक कस्तूरी-वर्णकी शोभा वर्षा कर रहा है, किन्तु पलक झपकते ही यह केसर-वर्णी हो उठता है, तीसरे ही क्षण यह कुमकुमी शोभाका विस्तार करने लगता है। द्रष्टा कुछ भी आस्वादनका रस ले पावे, इसके पहले ही इसकी कुमकुमी शोभा कभी कुन्दन-वर्णी हो उठती

है और कभी यह कर्पूराभायुक्त हो जाती है। कभी ऐसा लगता है कि रानीके साक्षात् चरणोंकी आकृतिवाला यह तिलक सुन्दर-से-सुन्दर मुक्ताओंसे जटित है, कभी यह माणिक्य रत्नोंके सौन्दर्यका प्रकाश करता है। इस प्रकार अनन्त शोभाका निकेतन यह तिलक भगवान्‌को और ही छबिदान करता है।

अभी भगवान्‌के मुकुटमें जड़े रत्नोंकी तो पारी आयी ही नहीं। भगवान्‌के किसलयके समान कानोंमें विजड़ित कुण्डलोंकी कपोलोंपर दमकका उल्लेख तो किया ही नहीं। फिर, ललाटपर जो चन्दनकी खौर चर्चित है, उसकी असीम शोभाका बखान तो हुआ ही नहीं। अब बताओ ! इतने वर्णोंसे उद्भासित मुखमण्डलको कोई, कैसे नवघन श्यामवर्ण कहेगा ? जो उन्हें मात्र श्यामवर्ण कहेगा, वह तो मात्र तमकी ही बात करता है, क्योंकि श्यामवर्ण तमस्‌का ही पर्याय है। परन्तु श्रीकृष्णविग्रह तो विशुद्ध सत्त्वकी मूर्त्ति है। अतः वहाँ तमस्‌के लेशका भी होना असंभव है।

भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंमें जो श्वेतता है, वह तो विशुद्ध सत्त्वकी प्रतिनिधि है, उनमें जो लालिमा है, वह विशुद्ध रजकी द्योतक है, और उनमें निहित कालिमा वह तमोगुणकी प्रकाशक है। भगवान् सर्वगुण-निकेतन होनेसे, सम्पूर्ण गुणोंको अपने नेत्रोंमें सजाये रहते हैं। भगवान्‌के मुखमें जो दंतपंक्ति है, वह विशुद्ध सत्त्वमयी एवं स्वच्छ-शुभ्र है। भगवान्‌के अधरोंमें जो लालिमा है, उसमें त्रिजगन्माता योगमायाका नित्य निवास है। भगवान्‌के अधरोंमें जो सर्वमोहिनी मुस्कान है, वह सर्व-वर्णमयी है। भगवान्‌की नाकमें जो सर्व-सौन्दर्यधाम बेसर है, वह प्रतिक्षण उनके अधरोंको अनुरंजित करती रहती है।

अब भगवान्‌के कम्बुकण्ठका हाल सुनें। इस परम सुन्दर कण्ठको परम चिन्मयी वृन्दामहारानी (तुलसी) नित्य मनोहर हारके रूपमें आलिंगित किये रहती हैं। अब बताओ, वह कण्ठ नीलघन, श्यामवर्ण कहाँ रह पाता है ? भगवान्‌की कण्ठगत घनश्यामताको तो भगवती तुलसीकी सर्वमनोहर हरीतिमा आच्छादित कर जाती है। अब तुलसी महारानीके साथ उनका लीला-धाम वृन्दावन, वनमालाके रूपमें भगवान्‌के कण्ठ-देशकी शोभा ही तो है। ये पुष्प मात्र गन्धवाही साधारण प्राकृत पुष्प ही नहीं है, ये समग्र उच्चतम भक्तिभावसे युक्त वृन्दावनवासी व्रजभक्तोंके विशुद्ध सात्त्विक मन हैं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनका नाम 'सुमन' अभिहित है। ये महाभावजनित प्रीति-समुद्रकी असंख्य लहरियाँ हैं। ये सुन्दरतम पुष्प बने व्रजभक्त, भगवान्‌को कण्ठसे लेकर कटि-पर्यन्त, अपितु कभी-कभी तो जंघा-पर्यन्त सर्वांगोंमें लम्बी वनमालामें गुँथे, अपने प्रेमालोकसे दिपदिपाते रहते हैं। ये अनन्त भावभरे हैं, अतः अनन्त वर्णोंकी

विलक्षण स्वप्रकाश आभा छिटकाते हैं। इन प्रत्येककी आभा, एक दूसरेकी आभासे मिश्रित होकर, जो पावनतम सर्वोच्च भक्तिमय वर्ण-प्रकाश व्यक्त करती है कि इसे कोई क्या कहे ? इसके उपरान्त भगवान्‌के दिव्य मंगलमय विग्रहमें जो आभूषण धृत हैं, उनमें कहीं नीलम, कहीं माणिक, कहीं वज्रमणि, कहीं मुक्ता, कहीं वैदूर्य, कहीं गोमेद, कहीं शुचितम गुंजाएँ लगी हैं। इन सभी चिन्मय रत्नोंका विलक्षण प्रकाश भगवान्‌के अंगोंको जगमगाता रहता है।

एक बात और बहुत ही भावमयी है। हमारी सभी इन्द्रियाँ अपनेसे बाहर के विश्वको तो प्रकाशित करती हैं, परन्तु हमारे अपने-आपेसे, स्वयंसे पूर्णतया अनभिज्ञ, अनजान ही रहती हैं। उदाहरण-स्वरूप हमारी नेत्रेन्द्रियाँ हैं, वे बाहरके विश्वको तो देख लेंगी, परन्तु ये नेत्रेन्द्रियाँ न तो स्वयं अपने आपको देख पाती हैं, न इनको आश्रय देने वाली बुद्धिको, मनको, अहंताको, हमारी आत्माको, परमात्माको देख सकती हैं, प्रकाशित कर सकती हैं। परन्तु भगवान्‌की नेत्रेन्द्रियाँ हमारी तरह अविद्या-दर्शनकुशल नहीं है। उनके तो आसपास ही छल, माया, अविद्या टिक नहीं सकती। अतः वे अन्तर्मुख हुई सर्वत्र भगवान् ही भगवान्‌को देखती हैं। भगवान्‌के नेत्र लीलामय सम्पूर्ण विश्वको देखते हैं, परन्तु क्षणके करोड़वें- अरबवें हिस्सेमें भी कभी अपने-आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देख पाते। भगवान्‌के नेत्रोंके सम्मुख आते ही अविद्यामयी माया मात्र पलायन ही नहीं करती, भगवान्‌में विलीन हो जाती है, और बचे रहते हैं, एकमात्र स्वयं भगवान्। चाहे वात्सल्यरसके मूर्तिमान् विग्रह भक्तराज नन्दबाबा एवं मैया यशोदा हों, अथवा रोहिणी मैया, बलदाऊ भैया; चाहे सख्य रस विग्रह मधुमंगल, श्रीदाम, सुदामादि सखागण हों, सभीमें भगवान्‌के नेत्र स्वयं अपने-आपको ही देखते हैं। भगवान् तो पूतना, तृणावर्त्त, व्योमासुर, कागासुर, अघासुर, बकासुरादि असुरोंमें भी अपने-आपको ही देखते हैं। इसीलिये भगवान् कभी भयग्रस्त नहीं होते।

भय तो सदा द्वितीय, 'पर' को देखनेसे ही होता है। अपने-आपसे कभी कोई भयभीत नहीं हो सकता। श्रुति कहती है- ***'द्वितीयाद्वै भयं भवति'***। जब सब रूपोंमें भगवान्‌के नेत्र अपने-आपको ही देखते हैं, तो वे कभी, किसी क्षण भयभीत हो ही नहीं सकते ।

इसी प्रकार, भगवान् कभी काम-ग्रस्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि दोकी सत्ता होनेपर ही कामोदय होता है। दोकी सत्तासे ही मोह, विषाद, मद एवं सम्मान पानेकी इच्छा होती है। भगवान्‌की इन्द्रियाँ परानुसंधान कर ही नहीं सकतीं।

भगवान्‌की सभी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हैं। भगवान्‌के नेत्र सर्वत्र, जैसे

अपने-आपको ही देखते हैं, उसी प्रकार, कान सर्वत्र किसी दूसरेका नहीं, अपना ही चिन्मय नाद सुनते हैं। भगवान् अपने आपको ही सर्वत्र पाकर अपने ही लीलानन्दमें मस्त रहते हैं। भगवान्‌से इसीलिए कोई कर्म नही होता। कर्म नहीं होनेसे उनको कर्मबन्धन भी नहीं होता। श्रुति कहती है :-

'परात् कामोऽभिजायते, परात् क्रोधो, लोभो मोहोऽभिजायते, पराद्वैभयं भवति।'

जहाँ अपनेसे भिन्न कुछ हो, तब न राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, चिन्ता, अभाव एवं अज्ञान हो। जहाँ मात्र आत्म-विलास ही आत्मविलास है, वहाँ कहाँ अज्ञानजन्य संसार है।

भगवान्‌के वर्णके सम्बन्धमें भी ऐसी ही बात समझनेकी है। सूर्य, चन्द्र एवं अग्निका प्रकाश बाहर फैलता है। सूर्यका वर्ण-प्रकाश सूर्यसे बाहरकी सत्ताको प्रकाशित करता है, परन्तु वह सूर्य स्वयं कैसा है, इसे नहीं बताता। भगवान्‌का वर्ण बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है। वह स्वयं भगवान् है। भगवान् एवं भगवान्‌का वर्ण – दो भिन्न, पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। इसी प्रकार भगवान्‌के आभूषणोंकी भी भगवान्‌से इतर कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वे भगवान्‌से अपृथक् अविभाज्य हैं। यही स्थिति भगवान्‌के आभूषणोंमें विजड़ित रत्नोंकी है। ये सभी मणियाँ बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होनेसे इनका वर्ण-प्रकाश भगवान्‌के विग्रहके वर्णमें एक होता रहता है। इसीप्रकार भगवान्‌का पीताम्बर भी है। भगवान्‌के पीताम्बरका चिन्मय पीतवर्ण भगवान्‌को सर्वत्र, सबओरसे आवृत कर लेता है और तब भगवद्वर्णसे एकात्म हुआ, एक साथ मिलकर भगवान्‌की समग्र शोभाका ही भाग हो जाता है।

इसे, इस प्राकृत उपमासे समझनेकी चेष्टा करें। हम सभी देखते हैं कि ज्योत्स्नामयी रात्रिमें कभी-कभी चन्द्रमाके चारों ओर एक मण्डल बनता है। यह मण्डल एक वर्णका नहीं होता। विविध रंगके चन्द्रमाके अनेक घेरे बनते हैं। ये नीले-पीले, लाल, हरे, बीसों घेरे होते हैं। ये रंग आपसमें मिले भी रहते हैं और अमिले भी। परन्तु चन्द्रमापर छिटके इन अनेक वर्णोंके मण्डलोंसे भी भगवान्‌का वर्ण-सौन्दर्य सही-सही नहीं आँका जा सकता, कारण चन्द्रमाकी किरणें बहिर्मुख होकर चन्द्रमाके बाहर मण्डल बनाती हैं और भगवान्‌के आभूषण भगवान्‌के वर्णको ही विचित्र वर्णोंसे रंजित करते हैं। वे बहिर्मुख नहीं, अन्तर्मुखी होते हैं। भगवान्‌का वर्ण-सौन्दर्य तो जब भगवान्‌के दर्शन होते हैं, तभी अनुभव होता है। परन्तु यह अनुभव भी मात्र क्षण-भर ही होता है। दूसरे क्षण, दूसरी छबि-तरंग उठती है और पूर्वछबिको अपने सम्मुख पूर्ण हतप्रभ, फीकी कर देती है। इसके पश्चात् पलक झपकते ही तीसरी छवि-तरंग उठ आती है और तब चौथी,

पाँचवी, छठी, सातवीं, आठवीं, सभी एक, दूसरेसे परस्पर असमोर्ध्व-सुन्दर तरंगे उठती रहती हैं। इस तरह अनन्त नवनूतन सुन्दर तरंगोंमें भगवान्का नयन-मनहारी वर्ण-समुद्र लहराता रहता है।

भगवान्के दिव्य विग्रहके आभूषण, उनके रत्नादि, कोई भी पार्थिव नहीं हैं। हमलोग इनकी संतुलना पार्थिव रत्नोंसे कर लेते हैं, यह हमारी पूरी भूल है। वहाँ सभी वस्तुएँ जीवन्त पूर्ण-भगवान् हैं। वे परम रसमय, चेतन, और चिन्मय हैं।

भगवान्के वर्णका आस्वादन भी हो सकता है – कोई प्राकृत जगत्का प्राणी इसे सुनकर हँसेगा। परन्तु, है यह बात सर्वथा सत्य। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने 'मधुराष्टक' नामक एक स्तोत्र बनाया है। जिसमें भगवान्को ***'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'*** कहा है। मधुरता तो जिह्वाका रस है। रूप जहाँ नयनोंद्वारा दर्शनीय होता है, मधुरता सदा जिह्वाद्वारा आस्वादनीय है। भगवान्के सभी वर्णोंको सुधाका अनन्त समुद्र कहा है। भगवान्की वर्ण-छबिमें अनन्त सुकोमलता भी है। इसका अर्थ यह है कि भगवान्के विग्रहको कोई जैसे स्पर्श करता है, वैसे ही उसे भगवान्के वर्णका भी स्पर्श-सुख मिल सकता है। भगवान्के वर्णमें अनन्त सुगन्धि है। यहाँ भगवान्के अंग-गन्धकी बात सर्वथा नहीं हो रही। कोई यह भूलकर भी नहीं समझे कि भगवान्के चिन्मय विग्रह एवं अंगोंकी सुगन्धको ही वर्णकी गन्ध कहा जा रहा है। भगवान्के वर्णोंकी गंध अंग-गन्धसे सर्वथा पृथक्, विलक्षण एवं भिन्न है। भगवान्की अंग-गंध जहाँ घनीभूत है, तीव्र है, वहाँ भगवान्के वर्णमें अति भीनी, परम मन्द, परन्तु बहुत ही विलक्षण गंध भरी है। जैसे चन्द्रमाकी चाँदनीका शीतल संस्पर्श अनुभव होता है, उसी प्रकार भगवान्के वर्णोंका भी संस्पर्श होता है।

भगवान्के वर्णकी सुकोमलताकी हम कल्पना ही नहीं कर सकते। हमने मात्र मांसल कोमलता ही देखी है। सूर्यकी किरणोंकी तीक्ष्णता और चन्द्रमाकी किरणोंकी शीतलता हमारी त्वचाकी ही संवेदनाएँ हैं। भगवान्के वर्णकी सुकोमलता तो हमें पूर्ण रूपसे तभी अनुभवमें आवेगी, जब उसका संवेदन हमको साक्षात् होगा।

भगवान्के चरणोंकी लालिमा एवं उनका वर्ण इतना सुकोमल है कि वैकुण्ठलोककी अप्राकृत धरा उसे, अपनेसे संस्पर्श कराती, सकुचाती है। भगवान् वैकुण्ठलोकमें सदा धरतीसे चार अंगुल ऊपर ही उठे रहते हैं। फिर इस कठोर मर्त्यलोककी पृथ्वीपर उनके पैर पड़नेका तो प्रश्न ही नहीं। कोई कहेगा कि भागवतशास्त्रमें तो इस व्रजभूमिमें भगवान्के गोचारण करने जाते समय नंगे पैरों पृथ्वीपर चलनेका स्पष्ट वर्णन है ? श्रीअक्रूरजीने वन-वीथियोंमें भगवान्के चरण-चिह्न देखकर उनका पूजन भी किया है ?

इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌के अवतरणके तीन पीढ़ी पूर्वसे ही चिन्मय-लोकका अवतरण इस पृथ्वीपर हो जाता है, अतः भगवान्‌के चरण उनके चिन्मय-लोककी चिन्मय भूमिपर ही पड़ते हैं, इस मृत्युलोककी कठोर, कर्कश भूमिपर नहीं। श्रीअक्रूरजीको मथुरासे आनेपर चिन्मय व्रजमें ही भगवान्‌के चरण-चिह्नोंके दर्शन हुए थे।

जब भगवान् गोचारण करने व्रजमें जाते थे, तो भगवान्‌के सुकोमल चरणोंको पृथ्वीदेवी अपने हृदयमें रखनेके उल्लाससे भरी भाव-सुमन सर्वत्र प्रस्फुटित कर देती थी, और उन भाव-सुमनोंपर ही भगवान्‌के चरण गिरते थे। गोपियाँ कहती हैं कि आपके चरण हमारे सुकोलतम अंग – कुचोंपर भी रखतीं हम सकुचाती हैं, क्योंकि हमारे कुचोंकी कठोर कर्णिका कहीं उन्हें क्षति न पहुँचा दे। जब गोपियाँ ही भगवान्‌के चरणोंको अपने हृदयमें रखती सकुचाती हैं, तो भला, यह जड़ पृथ्वी उन्हें कैसे अपने ऊपर रखेगी ? भगवान्‌के चरण तो पृथ्वीकी भाव-भूमिपर भाव-अंकुरोंको ही संस्पर्श करते चलते हैं।

भगवान्‌के साथ भगवान्‌का विलक्षण गन्ध-वलय भी चलता है। इसमें सम्मिलित हुईं भगवान्‌की अंग-गंध, अंग-वर्णकी गंध, भगवान्‌के तेजकी गंध, भगवान्‌के अंगोंमें चर्चित केसर, कस्तूरी, चन्दन एवं तुलसीकी दिव्य चिन्मय गंध, आभूषणोंसे निस्सृत गंध, वस्त्रोंकी सुवास-गंध, आभूषणोंमें विजड़ित रत्नोंकी गंध, पुष्प-हारोंकी गंध, उनपर चतुर्दिक् मँडराते व्रजके भ्रमरोंकी गंध, वृन्दावनकी भूमिगंध, लता-पतादिकी सुगन्ध – सभी गंधराशियाँ मिलकर भगवान्‌के आगे-पीछे, सर्व ओर एक ऐसा गंध-वलय, तेज-वलय, शब्द-वलय, वायु-वलय एवं भाव-वलय निर्मित करती हैं, जिसे मात्र अनुभवी ही अनुभव कर सकता है।

बस, यही कहा जा सकता है कि भगवान् 'भगवान्' ही हैं। उनका सब कुछ अनुपम, अतुलनीय, अवर्णनीय है।

अन्तमें मुझे तो यही कहना है कि भैया ! हम सभी प्राणप्रणसे नाम-जपमें लग जायें। भगवत्कृपासे तभी हम उस भगवल्लोकमें पहुँच पावेंगे, जहाँ भगवान्‌की अलौकिक महिमा एवं शोभाके हमें दर्शन हो सकेंगे।

''सकल अंग हरिविमुख, नाथ, तव नामकी ओट लयी है।
है तुलसी परतीति एक, प्रभु मूरत कृपामयी है।''

हम भगवन्नामकी रज्जु पकड़कर ही प्रभु-कृपाके अधिकारी हो सकते हैं। अतः नाम-जपका कभी त्याग नहीं करें, इतनी ही कृपा करें।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधा ।।

पत्र संख्या - पाँच (५)

श्रीरूप-सनातनके त्यागमय जीवनका अनुकरण

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीतारादत्तजी मिश्र

(पूज्य स्वामीजीके अग्रज भ्राता)

ग्राम - फखरपुर (गया) बिहार

लेखन स्थल :
श्रीजयदयाल हरिकृष्णदास
फर्मकी कोठी, बाँकुड़ा (बंगाल)
दिनांक :
२६ अप्रैल १९३८

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी कापीसे

आलोक

प. पू. स्वामी चक्रधरजी महाराजने जब सन्यास लिया था, तो ज्ञानमार्गी वेदान्ती होनेसे उस समय उन्होंने भगवान् आदिशंकरस्वामीकी रहनीको अपना अनुकरणीय आदर्श माना था। किन्तु तत्पश्चात् अकस्मात् ही उन्हें भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका दो-तीन माहका संग मिला और उस संगके चमत्कारपूर्ण प्रभावसे वे श्रीराधाकृष्ण युगल सरकारकी रसमयी भक्तिसे ओतप्रोत हो उठे। उनकी रहनीका आदर्श भी उनकी साधनानुसार परिवर्तित हो गया और उन्होंने वैष्णवादर्श श्रीरूप-सनातन गोस्वामी-बन्धुओंकी रहनीको अपना लक्ष्य निहितकर यावज्जीवन 'करतल भिक्षा तरुतल वास' का संकल्प कर लिया। क्योंकि उन्होंने इस संकल्पके पूर्व ही सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको उनके विचारोंकी गीताकी टीकाके लेखनकार्यमें सहयोग देनेका वचन दे दिया था, अतएव उस वचनको निभानेकेलिये वे उनके संग ढाई-तीन वर्ष अवश्य रहे; परन्तु ज्योंही यह कार्य सम्पन्न हुआ, वे वृन्दावन जाकर इसी आदर्श रहनीसे जीवन व्यतीत करनेका व्रत लेनेको समुत्सुक हो उठे।

यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें पुनः दर्शन देकर ऐसा करनेसे

मना कर दिया और वे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको ही सचल वृन्दावन मानकर उनके संग ही यावज्जीवन छायावत् रहे; किन्तु उनकी स्वयंकी निजी हृदयकी लालसा तो इन वैष्णवादर्श गोस्वामी-बन्धुओंकी रहनी-वरण करनेकी ही थी। अपने अग्रज भ्राताको लिखा उनका यह पत्र उनकी इसी आन्तरिक लालसाको ही अभिव्यक्ति दे रहा है।

श्रीराधाकृष्णौ वन्दे

पू. तारादत्त भैया

सादर सप्रेम प्रणाम । नीचेकी पंक्तियोंमें श्रीरूप एवं सनातन गोस्वामी प्रभृति दोनों भाइयोंकी जीवन-शैलीका एक आभास भर दे रहा हूँ :—

वे वृक्षोंकी तरह बिना किसी आवास (झोंपड़ी एवं मकान) के, खुले आकाशके नीचे रहा करते थे। तेज धूपमें, घनी वर्षामें यदि कहीं छाया भी ग्रहण करते, तो मात्र एक दिवस-रातभरके लिये किसी एक वृक्षकी। दूसरे दिवस, सूर्योदय होते ही, वे उस वृक्षकी छाया छोड़ देते थे। यदि आवश्यक होता, दूसरे दिन दूसरे वृक्षको ही अपना आश्रय बनाते थे। ब्राह्मणोंके सात घरोंसे टूक-टूक (रोटीका अल्प टुकड़ा) भिक्षारूपमें माँग लाना ही उनके पेट भरनेका साधन था। यदि किसी ग्राममें ब्राह्मणोंके घर नहीं होते, तो वे सर्वसाधारणके गृहोंसे मधुकरीवृत्तिसे टूक माँग लाते थे। उनके पास सूखी तूम्बी ही जल-पात्र होती थी और ग्राममें इतस्ततः फेंके फटे वस्त्र (चिथड़े) ही उनका शरीर ढकनेके साधन थे। ऐसे अल्पतम साधनोंसे जीवन-निर्वाह करते हुए भी वे परम संतुष्ट रहते थे और भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करते हुए सदा आनन्दमें मस्त, नृत्य करते हुए चलते थे। वे दिवस-रात, आठों प्रहर भजन करते रहते थे और चार घड़ी अर्थात् एक घंटा और छत्तीस मिनट मात्र, निद्रा लेते थे। यह शयन भी जब भजनमें कोई विक्षेप हो जाता, तो नहीं हो पाता था। वे नाम-जप करते-करते ही ग्रन्थ भी लिखते और चैतन्य-चरित्र सुना करते। उनका चैतन्य महाप्रभुके चरणोंका ध्यान भी नाम-जप करते हुए ही होता था। ऐसी आदर्श रहनीसे श्रीरूप-सनातन गोस्वामी दोनों भाईयोंने जीवन यापन किया था।

अवश्य ही तारा भैया ! हम दोनों भाई इन परमादर्श महात्यागी भगवद्भक्तोंके समान अपनी रहनी नहीं बना सके हैं। फिर भी, इन महात्माओंका आदर्श सम्मुख रखकर हमें इनका अनुकरण करनेकी चेष्टा तो करनी ही चाहिये। अहा ! कब वह सुभग अवसर आवेगा, जब वृन्दावनकी गलियोंमें इन भगवद्भक्तोंकी चरणरेणुके परमाणु हम दोनोंको पवित्र करेंगे। यदि हमारा ऐसा सौभाग्य भगवत्कृपासे हो जाय और हम दोनों ही उनका जीवनादर्श लेकर वृन्दावन चल

पड़ें, तो भगवान्‌के परम चिन्मय, अप्राकृत, नित्य-लीलाधाममें क्रीड़ा-केलिमें सम्मिलित हुए, ये परम भागवत दोनों भाई (श्रीरूप-सनातन) हम लोगोंपर अवश्यमेव कृपावर्षा करेंगे। भैया ! कोई परम अधम प्राणी भी यदि पात्र हो जाता है, तो ऐसे परम निर्मल महात्माजनोंको अपनी दिव्य शक्तिका संचार करके उनके ऊपर कृपावर्षा करनी ही पड़ती है।

आपने अपने पत्रमें लिखा है – "तुम मेरे इस मोहके बन्धनको शुद्ध प्रेमके बन्धनमें पलट दो, ताकि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे, तुम्हारे ही साथ श्रीरूप-सनातनकी तरह, प्रभुके सम्मुख हाथ जोड़नेका अधिकारी हो जाऊँ ।"

भैया ! दयामय प्रभुकी लीला अपरम्पार है। श्रीरूप-सनातन तो आपाततः विषयोंमें लिप्त थे। इनके पास योग्यता, विद्वत्ता, यौवन, नीति, बुद्धि, धन, मान, प्रतिष्ठा और राज्यशक्ति – सभी थीं। ये बंगालके नवाबके प्रधानमंत्री थे, किन्तु दयामयको उनपर दया आयी। उन्हें भगवत्प्रेमावतार महाप्रभु चैतन्यदेवके दर्शन हो गये। बस, महाप्रभु चैतन्यदेवकी चरणधूलिकी कृपाका यह चमत्कार हुआ कि घोर विषयोंमें लिप्त राज्यमद-जैसे घोर रजोगुणी अभिमानमें भरे, दोनों भाई अति उच्चतम कोटिके भगवद्भक्त हो गये।

ये मायासे कितने विरक्त थे, इसका एक छोटा-सा उदाहरण दे रहा हूँ। एक बार ये शौच-स्नानके लिये यमुनाजीके किनारे गये थे। वहाँ यमुनाजीकी रेतीमें एक पत्थरसे इनकी खड़ाऊ (पैरोंमें पहननेकी काष्ट-निर्मित पाहुनी) टकरा गयी। इस खड़ाऊमें अँगूठेके द्वारा पकड़नेके लिये बनायी खूँटीको स्थिर करनेके लिये उसके निम्न तलेपर एक लोहेकी कील लगी थी। उस ठोकरके पश्चात् श्रीसनातनदेवने देखा, वह कील पूरी स्वर्णमें परिवर्तित हो गयी है। ये समझ गये कि माया उन्हें भजनसे निवृत्त करनेका चक्र चला रही है। इसी मायाने उनकी राहमें देवरत्न पारस पत्थरको प्रकट किया है। इन्होंने उसी समय उस पत्थरको, रेतका एक टीला बना करके दबा दिया और खड़ाऊसे उस स्वर्णकी कीलको निकालकर उसे यमुनाजीमें फेंक दी। उसके स्थानपर दूसरी लोहेकी कील खड़ाऊमें ठोक दी। उस दिन स्वर्णको स्पर्श करनेके कारण श्रीसनातनदेवको उपवास करना पड़ा ।

इधर मायाने फिर नवीन घटना चक्र चलाया। बंगालके किसी शिवभक्तने बारह वर्षतक शिवाराधनकर भगवान्‌को प्रसन्न किया और उनसे पारस पत्थर प्राप्त करनेकी इच्छा व्यक्त की। भगवान् शिवजी तो कृपावतार, औढ़रदानी हैं; उन्होंने उस भक्तपर पूर्ण कृपाकर भक्तिदान करनेका विधान कर दिया। उन्होंने उससे कहा – "भाई ! पारस पत्थर चाहते हो, तो यहाँसे वृन्दावन चले जाओ

और वहाँ एक परम त्यागी भगवद्भक्त श्रीसनातन गोस्वामी रहते हैं, वे तुम्हें पारस पत्थर दे देंगे।'' यह शिवभक्त बंगालसे पैदल यात्रा करता हुआ वृन्दावन पहुँचा। वहाँ खोजता हुआ श्रीसनातन गोस्वामीकी कुटीपर पहुँचा।

उनके चरणोंमें साष्टांग दण्डवत्‌कर इसने उनको भगवान् शंकरजीका आदेश सुनाया। श्रीसनातन गोस्वामी तो अपने भजनमें लगे थे। उन्होंने उसकी बात सुनकर कहा – ''भैया ! मुझे तो अभी मेरे भजनकी पूर्त्ति करनी है, अतः मैं तो चल नहीं सकता। तू यमुना किनारे सीधी पगडंडीसे चला जा। वहाँ तुझे मेरी शौच-क्रिया करनेके स्थानपर एक जगह ऊँचा टीला-सा मिलेगा। उसकी मिट्टी हटा लेना, वहाँ तुझे पारस पत्थर मिल जायेगा। वह शिवभक्त पारस-जैसी अनमोल, अलभ्य मणिकी ऐसी उपेक्षा देखकर चकित हो गया। वह शीघ्रतापूर्वक सीधी पगडंडीपर चला गया और जहाँ श्रीसनातन गोस्वामी शौच-क्रिया करते थे, उसीके पास उसे वह रेतका ऊँचा बनाया स्तूप भी दिख गया। जरा-सी रेत हटाते ही उसे पारस भी प्राप्त हो गया और परीक्षाके तौरपर पारस-मणिका लोहेको स्वर्णमें परिवर्तित कर देनेका प्रभाव भी उस शिवभक्तने वहीं आजमाइश कर लिया। वह पारस लेकर अति हर्षित हुआ, परन्तु सच्चे सन्तके दर्शनसे उसपर भगवत्कृपा भी क्रियाशील हो उठी; उसके मनमें एक विलक्षण जिज्ञासा उदय हो गयी। उसने सोचा कि मैंने पारसको प्राप्त करनेके लिये बारह वर्ष घोर तपस्या की, उसके पश्चात् मैं भगवान् शिवका वरदान लेकर पैदल चलता यहाँ वृन्दावनमें पहुँचा। परमाश्चर्य, ऐसे अलभ्य रत्नको यहाँ इस महापुरुषने शौच-क्रिया करनेके अपवित्र स्थानपर मिट्टीसे दबाकर सर्वथा उपेक्षित डाल रखा था। इतनी बड़ी निधिसे इतनी विरक्तिका अर्थ ही है कि इस महात्माके पास इससे अधिक मूल्यवान् कोई निधि अवश्य है। जब मैं इतने प्रयाससे ऐसे महात्माके समीप पहुंच ही गया जो पारससे भी अनमोल महानिधिका स्वामी है, तो इन महात्मासे वही निधि क्यों न प्राप्त करूँ ? इस तुच्छ पारससे क्यों संतोष करूँ ? यह सोचकर वह पुनः श्रीसनातन गोस्वामीके चरणोंमें गिर गया। भगवद्भक्त-संत तो परम दयालु होते ही हैं, उन्होंने उस भक्तको अपने चरणोंमें गिरा देखकर कहा – ''भाई ! तुझे पारस मिल गया, अब क्यों मुझे तंग करता है ? अपने ग्राम जा और पारससे मनोवांछित धन प्राप्त कर ले।'' उस शिवभक्तने सन्तजीके चरण जोरसे पकड़कर कहा – ''महाराज ! औढ़रदानी भगवान् शंकरने आपसे मेरा परिचय कराया है। अवश्यमेव आपके पास इस पारसको भी हेय, तुच्छातिच्छ कर देने वाली कोई महामूल्यवान् निधि है। प्रभो ! अब मुझ शरणागतको यह तुच्छ पारस देकर उस महानिधिसे क्यों वंचित

कर दे रहे हैं ? इसे तो आपने इतना तुच्छ समझ रखा है कि शौच करनेके गंदे स्थानपर पटक दिया है ? प्रभो ! अब तो आपके पास जो पारससे भी परम अनमोल निधि है, वही मुझे दयाकर दान करें, जिससे मैं वास्तविक कृतकृत्यता प्राप्त कर सकूँ।

श्रीसनातनदेवजी समझ गये कि इस साधुपर भगवत्कृपा है। उन्होंने उससे परीक्षाके भावसे पूछा – "क्या इस पारसको तू यमुनामें फेंक सकता है ?" उसने उस पारसको तुरन्त ही यमुनाजीमें फेंक दिया। श्रीसनातन गोस्वामीने कहा – "सचमुच ही मेरे पास इस पारससे अनन्त-गुनी अधिक मूल्यवान् यह भगवन्नाम-मणि है। इसे तू ग्रहण कर ले, तू निश्चय ही कृतकृत्य हो जायेगा।"

श्रीसनातन गोस्वामीने उसे अपने जपकी माला दी और भगवान्नाममें लगा दिया। सो, भैया ! आप जानते हो, दयामय प्रभुकी लीला अपरम्पार है। मैं तो स्वयं भवसागरमें बह रहा था। पता नहीं, बहते-बहते कहाँ जाकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता, किन्तु दयामय प्रभुको मुझपर दया आ गयी। उन्होंने पासा पलट दिया। मैं उनकी ओर बहने लगा।

भैया ! भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) जैसे सन्तसे मैं तो मिलना ही नहीं चाहता था, परन्तु दयामय प्रभुने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि जिससे बाध्य होकर मुझे उनकी ओर जाना ही पड़ा। मैं मूढ़, अपनी शास्त्रीय मान्यताओंके झूठे आग्रहसे भरा विद्या-मदमें इतरा रहा था, परन्तु प्रभु-कृपाने बलात्कारसे महान् भगवद्भक्त, सिद्ध प्रेमानुरागी सन्तकी गोदमें मुझे खींचकर पटक दिया।

भाई ! इसीसे मिलती-जुलती घटना आपके साथ भी हुई ही है। आप तो भगवान्‌की भक्ति एवं ज्ञानकी बातोंको गीताकी मात्र किताबी बातें ही बताया करते थे। आप इन सब बातोंको व्यवहारसे परे ही समझते थे। आपका मनुष्य-जन्मका अनमोल समय पल-पल व्यर्थ ही बीत रहा था और आप पागलोंकी दीवाली मनानेमें पूरे जुटे थे। परन्तु आप पर भी करुणा-वरुणालयको दया आयी। उन्होंने हठात् आपके जीवनमें परिवर्तन कर दिया। देखते-ही-देखते आप नरकमय जीवनका परित्यागकर बाहर निकलने लग गये और आज प्रभुसे मिलनेकी उत्कण्ठा आपमें बढ़ती जा रही है।

भैया ! मैं आपसे क्या कहूँ – अब तो आपको कलकत्तेमें श्रीजयदयाल गोयन्दकाजी जैसे श्रेष्ठ ज्ञानीसन्तकी आत्मीयता भी प्राप्त हो गयी है और भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी भी आत्मीयता, उनका दर्शन-स्पर्श भी आपको प्राप्त हो चुका है। मुझे तो श्रीविभीषणजीकी, श्रीहनुमानजीके दर्शन करनेके पश्चात् कही उक्ति याद आ रही है :–

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ।।

अतः, जब हम दोनों भाइयोंको ऐसे महासिद्ध भगवद्भक्त प्राप्त हो चुके हैं, तो हमपर भगवान्‌की कृपा भी निश्चय ही अविलम्ब अवतरित होगी।

भैया ! यदि इसमें कुछ भी विलम्ब हो रहा है, तो मात्र इसीलिये कि हमें भगवान्‌के बिना रहना सह्य हो रहा है। मुनिराज वसिष्ठजीकी उक्ति, भैया प्रतिदिन हम दोहरायें :–

प्रान प्रानके जीवके जिव सुखके सुख राम ।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहिं, तिन्हहिं विधि बाम ।।
सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ । जहँ न राम पद पंकज भाऊ ।।
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू । जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ।।
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम तेहीं । तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केहीं ।।

अहा ! कब हमारा ऐसा सौभाग्य होगा कि हमें भगवान् प्राणों-के-प्राणकी तरह प्यारे लगने लगेंगे। वे हमारे जीव-के-जीव, सुख-के-सुख होंगे । भगवान्‌के बिना हम भोजन खा रहे हैं, उसका स्वाद-सुख ले रहे हैं, हम जल पी रहे हैं, हमें श्वास लेना सुखदायी लग रहा है, हम घर-द्वार, सुख-सम्पत्ति, मान-सम्मान, स्त्री-पुत्रके सभी भोग भोग रहे हैं, निश्चय ही हमारे ऊपर विधाता अनुग्रहशील नहीं है। अन्यथा हमें भगवान्‌के विरहमें कुछ भी प्रिय लगना नहीं चाहिये था। जबतक हमारे हृदयमें भगवान्‌के चरण-कमल विराजित नहीं हों, हमें इतर धरम-करम, सुख-आनन्द अग्निके समान जलानेवाला लगना चाहिये था। श्रीवसिष्ठजी महाराज कहते हैं कि यदि ऊँची-से-ऊँची योग-समाधि भी भगवान्‌के प्रेमसे छलकती रसमयी नहीं है, तो वह समाधि योग नहीं, कुयोग ही है। योगको योग तभी कहना चाहिये, जब वह भगवान्‌के परम शंतम चरणोंसे हमें संयुक्त कर दे। यदि भगवान्‌के दर्शन-मिलनेसे हीन कोई ज्ञानोपलब्धि है, तो निश्चय ही वह घोर अज्ञान ही है।

अतः हम और कुछ भी नहीं कर सकें, तो जीभसे निरन्तर भगवान्‌का नामोच्चारण तो करते ही रहें। हम नामको साक्षात् भगवान् समझें और अपना सर्वस्व लुटाकर भी भगवान्‌के नामको कभी नहीं बिसरावें। हम भगवान्‌का नाम लेकर ही अपनेको परम सुखी मानें और नामके बिना अपने को महादुखी, हीन एवं कंगाल ही समझें ।

बस ! हमारी यही बुद्धि हो जाय, तो नाम-भगवान् हमारा शेष सभी कार्य सम्पादित कर देंगे। सभीको मेरा सादर सप्रेम यथायोग्य ।

आपका भाई - चक्रधर

।। श्रीराधा।।

पत्र-संख्या - छः (६)

श्रीधाम-वृन्दावनकी एक चमत्कारिक घटना

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

भविष्यमें - परम पूज्य श्रीराधाबाबाके नामसे विख्यात

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक, श्रीमाहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता

प्रेषण-स्थल :
गीता वाटिका, गोरखपुर (उ.प्र.)
दिनांक :
२० सितम्बर, १९३८

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपिकर
उतारी गयी कॉपीसे

आलोक

गोरखपुर रेलवे-स्टेशनसे तीन किलोमीटरकी दूरीपर लगभग छः-सात एकड़ भूमिमें फैला एक लघु वनस्थल, जिसे 'गीता वाटिका'के नामसे जाना जाता है। उन दिनों उस सम्पूर्णक्षेत्रमें विद्युत्का प्रकाश नहीं पहुँचा था। मात्र लालटेनके प्रकाशमें ही काम चलाया जाता था। चारों ओर आम्र, अमरूद, लीची, कदली आदिके वृक्षोंसे घिरी एक सुन्दर, सुव्यवस्थित वाटिका, मध्यमें कोठी, जिसमें गृहस्थ-आवास एवं 'कल्याण' तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के सम्पादन-विभागका कार्यालय भी है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार इसीमें सपरिवार रहते हैं। इस कोठीके पीछे वनक्षेत्रमें अनेक कुटियाएँ बनी हैं, जिनमें सम्पादन विभागके अन्य लोग एवं साधकगण रहते हैं। चतुर्दिक्, सुन्दर वृक्ष, लताएँ, पुष्प, कोकिलादिका गायन – सब मिलाकर सर्वत्र पूर्ण सात्त्विक वातावरण है। इसी वाटिकामें पीछे वनक्षेत्रमें पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज भी एक कुटीमें ठहरे हैं। गीता-तत्त्वविवेचनी (सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके भावोंकी गीताकी टीका) का लेखन-कार्य चल रहा है, इसी हेतु से श्रीसेठजीके साथ स्वामीजीका गोरखपुर आगमन हुआ है।

श्री राधाकृष्णौ वन्दे

प्रिय देवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। जैसा आपने पूर्वपत्रमें सच्चे हृदयसे आशीर्वाद दिया है, उसी प्रकार सदा आशीर्वाद देते रहें, जिससे जीवन भगवान्‌के चरणोंमें सर्वथा समर्पित हो जाय। गुरुजनोंका सच्चे हृदयसे प्राप्त आशीर्वाद सचमुच ही जीवनकी प्रगतिमें अत्यधिक सहयोगी होता है।

श्रीवृन्दावन-धाममें आजसे पाँच-छः वर्ष पहले एक सच्ची घटना घटित हुई है। हम सभीके भगवद्विश्वासको बढ़ानेवाली इस घटनाका आपके सम्मुख उल्लेख कर देता हूँ। संभव है इससे, आपको कुछ पारमार्थिक लाभ हो।

वृन्दावनमें एक ब्राह्मण परिवार रहता था। परिवारका मुखिया भगवान् श्रीकृष्णका परम श्रद्धालु एवं सच्चा भक्त था। परिवारमें कुल मिलाकर सात-आठ प्राणी थे। भगवद्भक्तोंकी प्रायः भगवान् अपनी भक्तवत्सलता दिखानेके लिये कठिन परीक्षाएँ लेते ही रहते हैं।

हम मृत्युको भयावह मानते हैं, परन्तु भगवान् तो मृत्युके रूपमें अपने भक्त और उसके स्वजनोंको अपने परमधामका अखण्ड सुख दान करते हैं। अतः मृत्यु-रूपमें वे उनका यह मलिनतम गन्दा रक्त-मांससे बना शरीर-रूप मैला वस्त्र हटा देते हैं और अपने जनोंको अपनी परम वात्सल्यमयी गोदमें नित्य-जीवन प्रदान कर देते हैं। सो, भगवान्‌ने उस परम भगवद्भक्त ब्राह्मणके परिवारके साथ भी ऐसी ही लीला की। एक ही वर्षमें उन ब्राह्मणके घरके सभी प्राणियोंकी एक-एक कर मृत्यु हो गयी। हरे-भरे परिवारमें मात्र शेष रहे – वे, अकेले एक ब्राह्मण ही ।

इतने प्राणियोंकी एक ही साथ रुग्णता, उनके इलाज और तब मृत्यु-खर्च करनेके कारण ब्राह्मणको अपनी सब जायदादको तो बेचना ही पड़ा, साथ ही जो एकमात्र रहनेको मकान बचा, उसको भी एक महाजनके पास गिरवी रख देना पड़ा । यावज्जीवन ब्राह्मणने कभी नौकरी नहीं की थी। जो खेती थी, वह परिवार-पालनके लिये भगवत्कृपासे पर्याप्त अन्न-वस्त्र दे देती थी। परन्तु सम्पत्तिके विक्रय हो जानेसे और गिरवीके कर्जके रुपए चुकानेके लिए ब्राह्मणको एक जगह सेवकत्व भी करना पड़ा। उसे प्रतिमास उस सेवकाईसे आठ रुपये मासिक मिलते थे। अपना जीवन-निर्वाह मात्र एक-दो रुपये मासिकमें ही किसी प्रकार करके ब्राह्मण, अधिकांश बचा रुपया, उस महाजनको गिरवीके रुपयोंके पेटे दे देता था। ब्राह्मण अकेला प्राणी था, वह नौकरीके अतिरिक्त सभी